पंजीयन संख्या : 68939/98

ज्ञान तत्व

सत्यता एवं निष्पक्षता का निर्भीक पाक्षिक

JULY 2025
अंक - 13

475

भारतीय संविधान की एक समीक्षा 3

"... दुनिया में न तो संविधान की कोई स्पष्ट परिभाषा बनी, न ही मूल अधिकार की। यहाँ तक कि अपराध, गैरकानूनी, अनैतिक की भी अलग-अलग व्याख्या दुनिया में नहीं हो पाई। राज्य का दायित्व क्या हो और स्वैच्छिक कर्तव्य क्या हो, यह भी नहीं हो पाया।..."

हम भारतीय संविधान के कुछ परिणामों की व्याख्या करें 4

प्रश्नोत्तरी 10

देश के अनेक मूर्धन्य विद्वानों के प्रश्न और मुनि जी के द्वारा दिये उनके उत्तर

MARGDARSHAK

प्रकाशन की तिथि - 15-07-2025 पोस्ट की तिथि - 1-08-2025

सिंहावलोकन

9 **नयी प्रस्तावित समाज व्यवस्था का स्वरूप**

12 **संविधान चर्चा**

12 **संघ और हिन्दुत्व**

13 **ज़ूम चर्चा कार्यक्रम का सारांश**

साथियों की कलम से -

14 **'जुस्तजू' - नरेन्द्र सिंह**

जब छात्र मोहरे बन जाते हैं: रोहित से राहुल तक – ज्ञानेन्द्र आर्य

15 **जीवन पथ (उपन्यास)**

पत्र व्यवहार का पता

बजरंग लाल अग्रवाल पोस्ट बाक्स 15, रायपुर (छ.ग.) 492021

website : margdarshak.info

प्रकाशक, संपादक व स्वामी - बजरंगलाल

9617079344

mail : Support@margdarshak.info

मुख्य कार्यालय-
ज्ञानयज्ञ परिवार आश्रम
रामानुजगंज छत्तीसगढ़ 497220
8318621282, 9630766001

लोक स्वराज अभियान
505 कृष्णा शिप्रा अजूरा अपार्टमेंट कौशांबी
गाजियाबाद 201012
9325683604, 9012432074

प्रधान संपादक
बजरंग लाल अग्रवाल
(बजरंग मुनि)

संपादक मण्डल
नरेन्द्र सिंह
विपिन तिवारी
विपुल आदर्श

सहयोगी संपादक
ज्ञानेन्द्र आर्य

सदस्यता नियमन
संजय गुप्ता 872669477
कुशल दुबे 7999934238

सज्जा
लाल बाबू रवि

वितरण एवं मुद्रण सहयोग
रबीन्द्र विश्वास

भारतीय संविधान की एक समीक्षा

बजरंग मुनि
प्रधान संपादक

पूरी दुनिया में छोटी-छोटी इकाइयों से लेकर राष्ट्रीय सरकारों तक के अपने-अपने संविधान होते हैं और उक्त संविधान के अनुसार ही तंत्र नीतियां भी बनाता है और कार्य भी करता है, किन्तु हम वर्तमान लेख में भारतीय संविधान तक की समीक्षा करने तक सीमित हैं।

तानाशाही और लोकतंत्र बिल्कुल विपरीत प्रणालियां हैं। तानाशाही में शासन का संविधान होता है और लोकतंत्र में संविधान का शासन। भारत एक लोकतांत्रिक देश है और इसलिए हम कह सकते हैं कि यहां संविधान का शासन है भी और होना भी चाहिए। दुनिया के अधिकांश लोकतांत्रिक देशों में संविधान का शासन माना जाता है। स्वाभाविक है कि लंबे समय के बाद संविधान में कुछ बदलाव की आवश्यकता होती है।

यदि हम पूरी दुनिया का आकलन करें तो अन्य लोकतांत्रिक देशों में भी वर्तमान संविधान अपेक्षित परिणाम नहीं दे पा रहे, किन्तु यदि हम भारत का आकलन करें तो भारतीय संविधान सत्तर वर्षों में ही विपरीत परिणाम देता रहा है और यह गति आज तक बढ़ रही है। दुनिया के संविधान बनाने वालों की यदि समीक्षा करें तो हो सकता है कि उनसे कुछ भूलें ही हुई हों अथवा लंबा समय बीतने के बाद कुछ परिस्थितियां बदली हों। किन्तु भारतीय संविधान बनाने वालों से अनेक भूलें तो हुई हीं, किन्तु उनकी नीयत पर भी संदेह होता है।

यदि हम लोकतंत्र को ठीक-ठीक परिभाषित करें तो लोकतंत्र का अर्थ होना चाहिए – लोक नियंत्रित तंत्र। भारतीय संविधान निर्माताओं ने इसे बदलकर लोक-नियुक्त तंत्र तक सीमित कर दिया। वैसे तो पूरी दुनिया में कहीं भी लोकतंत्र की आदर्श परिभाषा स्पष्ट नहीं है, किन्तु भारत में तो दुनिया से अलग लोकतंत्र की अपनी अलग परिभाषा बना ली। ऐसा लगता है कि हमारे संविधान निर्माताओं में सत्ता प्राप्त करने की बहुत ज्यादा जल्दी थी। आदर्श स्थिति में व्यक्ति और लोक अलग-अलग होते हैं। लोक सभी व्यक्तियों को मिलाकर बनता है जबकि व्यक्ति अलग होता है। इस तरह लोक और व्यक्ति के बीच में तंत्र होता है।

तंत्र प्रबंधक होता है और लोक मालिक, किन्तु भारतीय संविधान निर्माताओं ने तंत्र को प्रबंधक की जगह शासक कहना शुरू कर दिया, जिसका अर्थ हुआ कि लोक मालिक नहीं बल्कि शासित है। जबकि आदर्श स्थिति में लोक को मालिक, तंत्र को मैनेजर और व्यक्ति को शासित मानना चाहिए और तंत्र को 140 करोड़ व्यक्तियों का शासक नहीं बल्कि 140 करोड़ व्यक्तियों के समूह का मैनेजर होना चाहिए।

तंत्र के अधिकार लोक की अमानत होते हैं, किन्तु हमारे तंत्र से जुड़े लोगों ने उन्हें अमानत न समझकर अपना अधिकार मान लिया। पूरी

दुनिया में न तो संविधान की कोई स्पष्ट परिभाषा बनी, न ही मूल अधिकार की। यहाँ तक कि अपराध, गैरकानूनी, अनैतिक की भी अलग-अलग व्याख्या दुनिया में नहीं हो पाई। राज्य का दायित्व क्या हो और स्वैच्छिक कर्तव्य क्या हो, यह भी नहीं हो पाया। दुर्भाग्य से हमारे संविधान निर्माताओं ने जल्दबाजी में या नासमझी में इस प्रकार की परिभाषाओं पर चिंतन-मंथन करने की अपेक्षा विदेशी संविधानों की नकल करना उचित समझा। भारत का संविधान और हमारे संविधान विशेषज्ञ आज तक यह बात साफ नहीं कर सके कि संविधान के अनुसार राज्य का अर्थ सिर्फ प्रदेशों से माना गया है या प्रदेश सरकार और केंद्र सरकार को मिलाकर। परिणाम आपके सामने है कि आज तक ऐसे गहन मौलिक विषयों को कभी परिभाषित नहीं किया गया — न ही भारत में और न ही दुनिया में।

संविधान की परिभाषा यह होती है कि **"तंत्र के अधिकतम और लोक के न्यूनतम अधिकारों की सीमाएँ सुनिश्चित करने वाले दस्तावेज को संविधान कहते हैं, और व्यक्ति के अधिकतम तथा तंत्र के न्यूनतम अधिकारों की सीमाएँ सुनिश्चित करने का कार्य कानून कहा जाता है"।**

कानून तो तंत्र के द्वारा बनना स्वाभाविक है, किन्तु संविधान या तो लोक के द्वारा बनाया जाएगा अथवा लोक और तंत्र की समान भूमिका होगी। किन्तु हमारे संविधान निर्माताओं ने तंत्र को ही संविधान संशोधन के असीम अधिकार दे दिए, जिसका अप्रत्यक्ष अर्थ हुआ कि भारत में संविधान तंत्र-नियंत्रित हो गया – अर्थात तंत्र की तानाशाही हो गई। यह बात कैसे उचित कही जा सकती है कि जो तंत्र कानून बनाता है, कानून का पालन भी करता है, वही तंत्र संविधान में बदलाव भी कर सकता है? यदि यह बात उचित मान ली जाए तो इसे तंत्र की तानाशाही क्यों न कहा जाए।

संविधान के मौलिक सूत्रों का निर्माण समाजशास्त्र का विषय है और व्यावहारिक स्वरूप या भाषा राजनीति शास्त्र का। भारत का संविधान बनाने में मौलिक सोच भी राजनेताओं की रही और भाषा देने में भी लगभग अधिवक्ताओं का ही अधिक योगदान रहा। परिणाम हुआ कि भारत की संवैधानिक संरचना वकीलों के लिए स्वर्ग के समान बन गई।

भारतीय संविधान में कुछ कमियाँ प्रारंभ से ही दिखती हैं:

(1) संविधान को हमेशा स्पष्ट अर्थ प्रदाता होना चाहिए, द्विअर्थी नहीं। आज स्थिति यह है कि न्यायालय तक संविधान की विपरीत व्याख्या करते देखे जाते हैं। ऐसा महसूस हो रहा है कि सुप्रीम कोर्ट की फुल बेंच के ऊपर भी कोई और बेंच होती तो फुल बेंच के अनेक निष्कर्ष बदल सकते थे।

(2) 'परन्तु' के बाद मूल अर्थ न बदलकर अपवाद ही आना चाहिए, किन्तु भारत के संविधान में 'परन्तु' के बाद उसके मूल स्वरूप को ही बदल दिया जाता है। भारत में धर्म, जाति, लिंग का भेद नहीं होगा, सबको समान अधिकार होंगे - किन्तु महिलाओं, अल्पसंख्यकों, आदिवासियों, पिछड़ों के लिए विशेष कानून बनाए जा सकते हैं।

स्पष्ट है कि भारत की 90 प्रतिशत आबादी समानता के अधिकारों से वंचित हो जाती है।

(3) धर्म, जाति, भाषा, लिंग आदि के भेद समाज के आंतरिक मामले हैं, जबकि परिवार, गांव, जिले व्यवस्था की इकाइयाँ हैं। भारतीय संविधान ने परिवार, गांव, जिले को तो संविधान से बाहर कर दिया और धर्म, जाति, भाषा, लिंग भेद को संविधान में घुसा दिया।

परिणाम हुआ कि वर्ग समन्वय टूटा और वर्ग-विद्वेष, वर्ग-संघर्ष बढ़ गया।

(4) संविधान बनाने वालों ने तंत्र के दायित्व और स्वैच्छिक कर्तव्य का अंतर नहीं समझा। तंत्र का दायित्व होता है सुरक्षा और न्याय, और स्वैच्छिक कर्तव्य होता है अन्य जनकल्याणकारी कार्यों में सहायता। संविधान निर्माताओं ने सुरक्षा और न्याय की तुलना में जनकल्याण को अधिक महत्व दिया। यहां तक कि संविधान में व्यावहारिकता का भी पूर्णतः अभाव रहा।

ऐसी-ऐसी आदर्शवादी घोषणाएँ कर दी गईं जो संभव नहीं थीं। उसका परिणाम हुआ – अव्यवस्था।

(5) संविधान निर्माताओं ने उद्देशिका में नासमझी में 'समानता' शब्द शामिल कर दिया, जबकि 'समानता' की जगह 'स्वतंत्रता' शब्द होना चाहिए था। उन्होंने 'समानता' का अर्थ भी ठीक-ठीक नहीं समझा। आर्थिक असमानता की तुलना में राजनीतिक असमानता अधिक घातक होती है।

हमारा संविधान आर्थिक-सामाजिक असमानता को अधिक महत्व देता है और उसके कारण राजनीतिक असमानता बढ़ती चली जाती है।

(6) सिद्धांत रूप से कमजोरों की सहायता मजबूतों का कर्तव्य होता है, कमजोरों का अधिकार नहीं। हमारे संविधान निर्माताओं ने इस सहायता को कमजोरों का अधिकार बना दिया। इसके कारण अक्षम और सक्षम के बीच वर्ग-विवाद, वर्ग-संघर्ष बढ़ा। मजबूतों को कमजोरों ने सहायक न मानकर शोषक मान लिया।

किसी संविधान में यदि एक मौलिक कमी हो तो वह अकेली कमजोरी भी दूरगामी प्रभाव डालती है। किंतु भारतीय संविधान में तो सारी कमियाँ ही विद्यमान हैं और "हर शाख पर उल्लू बैठा है" के अंजाम के आधार पर परिणाम स्पष्ट दिख रहा है। आज यदि भारत की जनता बढ़ती हुई अव्यवस्था के समाधान के लिए किसी तानाशाह का भी सम्मान करने को तैयार है तो यह दोष जनता का न होकर हमारे संविधान निर्माताओं का ही माना जाना चाहिए। इसीलिए मैं समझता हूँ कि कहीं न कहीं संविधान निर्माताओं की नीयत में भी खराबी थी, तभी उन्होंने संविधान संशोधन तक के अधिकार लोक से छीनकर तंत्र को दे दिए तथा लोकतंत्र की परिभाषा पूरी तरह बदलकर लोक-नियुक्त तंत्र तक सीमित कर दी।

हम भारतीय संविधान के कुछ परिणामों की व्याख्या करें—:

1. भारतीय संविधान का पहला परिणाम यह दिख रहा है कि तंत्र शरीफों, गरीबों, ग्रामीणों, श्रमजीवियों के विरुद्ध धूर्तों, अमीरों, शहरीयों, बुद्धिजीवियों का मिला-जुला षड्यंत्र बनता दिखने लगा है।

2. स्पष्ट दिख रहा है कि संसद एक जेलखाना है जिसमें हमारा भगवान रूपी संविधान कैद है। संविधान एक ओर तो संसद की ढाल बन जाता है, तो दूसरी ओर संविधान संसद की मुट्ठी में कैद भी है।

3. न्यायपालिका और विधायिका के बीच ऐसी अधिकारों की छीना-झपटी दिख रही है जैसे लूट के माल के बँटवारे में दिखती है।

4. लोक और तंत्र के बीच दूरी लगातार बढ़ती जा रही है। लोक हर क्षेत्र में तंत्र का मुखापेक्षी हो गया है। यहाँ तक कि तंत्र और लोक के बीच शासक और शासित की भावना तक घर कर गई है।

5. समाज के हर क्षेत्र में वर्ग-समन्वय के स्थान पर वर्ग-विवाद, वर्ग-द्वेष बढ़ रहा है।

6. तंत्र का प्रत्येक अंग हर कार्य में समाज को दोष देने का अभ्यस्त हो गया है। तंत्र का काम सुरक्षा और न्याय है, किंतु तंत्र इसके लिए भी लोक को ही दोषी ठहराता है। यहाँ तक कि कुछ वर्ष पूर्व भारत के प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति और विपक्ष के नेता तक ने कहा कि संविधान दोषी नहीं है, बल्कि उसका ठीक-ठीक पालन नहीं होता। पालन न करने वाले दोषी हैं। दोषी संविधान है, व्यवस्था है, तंत्र है। और समाज में "हम सुधरेंगे, जग सुधरेगा" जैसा गलत विचार प्रसारित किया जा रहा है।

7. भारत में लगातार अव्यवस्था बढ़ती जा रही है। भौतिक विकास तेज़ गति से हो रहा है और उससे भी अधिक तेज़ गति से नैतिक पतन हो रहा है।

समस्याओं पर हमने विचार किया, किंतु समाधान भी सोचना होगा। समस्या विश्वव्यापी है किंतु समाधान की शुरुआत भारत कर सकता है, और भारत की शुरुआत हम-आप कर सकते हैं।

1. परिवार और गाँव को तत्काल संवैधानिक अधिकार दिए जाने चाहिए। इससे तंत्र का बोझ घटेगा और तंत्र सुरक्षा तथा न्याय की ओर अधिक सक्रिय हो सकेगा।

2. संविधान को संसद के "जेलखाने" से मुक्त कराने की पहल होनी चाहिए। संविधान संशोधन के अंतिम अधिकार तंत्र-मुक्त किसी इकाई को दिए जाने चाहिए।

3. लोकतंत्र, मूल अधिकार, अपराध, समानता आदि की वर्तमान भ्रमपूर्ण मान्यताओं को चुनौती देकर वास्तविक अर्थ स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए।

4. संविधान, कानून आदि शब्दों की भी स्पष्ट परिभाषा बननी चाहिए – भले ही अब तक दुनिया में न बनी हो। संसदीय लोकतंत्र को बदल कर सहभागी लोकतंत्र की दिशा में बढ़ना चाहिए।

5. सांसद को दल-प्रतिनिधि की जगह जन-प्रतिनिधि होना चाहिए। संसदीय लोकतंत्र को बदलकर निर्दलीय व्यवस्था की ओर जाना चाहिए। जिस तरह आज संसद असंसदीय दृश्य प्रस्तुत करती है वह हमारे लिए शर्म और चिंता का विषय है।

भारतीय संविधान में कुछ मौलिक सुधार की आवश्यकता है – ऐसे सुधार अवश्य होने चाहिए।

मुझे विश्वास है कि भारतीय संविधान की कमजोरियों को दूर करने की हमारी कोशिश विश्वव्यापी परिवर्तन की दिशा में ले जा सकती है। हमें इस दिशा में विचार-मंथन करना चाहिए।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न 1: संघ प्रमुख सुदर्शन जी ने नागपुर के एक कार्यक्रम में घोषित किया कि भारतीय संविधान भारत की समस्याओं के समाधान में विफल हुआ। इसलिए अब संविधान में व्यापक संशोधन, परिवर्तन आवश्यक है। मेरे विचार में सुदर्शन जी ने यह कहकर आपकी राह आसान कर दी है। उसी सभा में सर्वोदय के प्रमुख विद्वान चन्द्रशेखर जी धर्माधिकारी और भारत के पूर्व सेनाध्यक्ष टिपणिस जी भी मौजूद थे जिन्होंने सुदर्शन जी के कथन का विरोध किया। आप इनके विरोध में क्या मानते हैं?

उत्तर: माननीय चन्द्रशेखर जी धर्माधिकारी और टिपणिस जी जैसे शरीफ लोगों से इससे ज्यादा उम्मीद भी नहीं करनी चाहिए। इन लोगों ने जीवन भर नेहरू के कथन को ही आँख बंद करके गांधी विचार मान लिया, जबकि गांधी के मरते ही नेहरू ने गांधी विचारों को पूरी तरह उलटना शुरू कर दिया। इन गांधीवादियों ने अंबेडकर को संविधान निर्माता और संविधान पर विचार को अंबेडकर का विरोध मान लिया, जबकि संविधान की कमजोरियों का इलाज खोजना और करना बहुत महत्वपूर्ण है।

पेड़ के फल दूषित हैं, इसका कारण पेड़ पर छींटी जा रही दवा का प्रभाव है या दूषित बीज—यह शोध आवश्यक है। मुझे ऐसा लगता है कि सुदर्शन जी का ध्यान भारतीय संविधान के मूल स्वरूप के दोषों की ओर न जाकर संविधान की विभिन्न कमजोरियों की ओर ही गया।

धर्म व्यक्ति के आचरण का विषय है, नियंत्रण या अनुशासन का नहीं। यदि समाज के लोगों का आचरण ठीक नहीं होगा तो उसे अनुशासन से ठीक करने का दायित्व समाज का है, संविधान का नहीं। किन्तु यदि समाज के लोग दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा डालना शुरू करेंगे तब नियंत्रण की आवश्यकता होगी और तब शासन बीच में आएगा। ऐसा शासन उच्छृंखल न हो जाए, इसलिए समाज उस शासन की अंतिम सीमाएँ तय कर देता है। इन सीमाओं के दस्तावेज को ही संविधान कहते हैं।

संविधान ऐसा होना चाहिए कि शासन पर समाज का नियंत्रण हो और शासन कभी भी किसी भी स्थिति में उच्छृंखल न हो। यदि शासन समाज के नियंत्रण से बाहर हो जाए तो यह संविधान की विफलता मानी जाएगी, और यदि ऐसा उच्छृंखल शासन समाज में भी उच्छृंखलता को प्रोत्साहित करना शुरू कर दे तो यह सामाजिक संकट की श्रेणी में आ जाएगा। आज भारत में यही हो रहा है। इसलिए गंभीरतापूर्वक सोचना होगा कि राज्य या राजनीति के उच्छृंखल होने का आधार संविधान के मूल आधार में छिपा है या संविधान के सामान्य स्वरूप में।

भारतीय संविधान का मूल आधार है "जनकल्याणकारी राज्य"। इस मूल आधार ने राज्य को लोक-नियुक्त तंत्र का आधार दिया। इसने अधिकार-विभाजन में समाज को मतदान

द्वारा संसद बनाने का एक अधिकार सौंप कर अन्य सारे अधिकार अपने पास रख लिए। संविधान के इस मूल स्वरूप के ही आधार पर शेष संविधान की रचना की गई। जब मूल स्वरूप ही दोषी था तो शेष ढांचा तो उसी तरह का होना ही था। जब संविधान के मूल ढांचे में ही राजनेताओं को समाज के हर मामले में हस्तक्षेप का अधिकार दे दिया गया–यहाँ तक कि संविधान में संशोधन तक का अधिकार दे दिया गया–तो राजनेताओं को उच्छृंखल होने से रोकने का समाज के पास कोई अधिकार बचा ही कहाँ था?

यह तो भारतीय राजनेताओं पर भारतीय संस्कृति का ऐसा संस्कार था कि उच्छृंखलता बढ़ने में इतना लंबा समय लगा, अन्यथा ऐसा प्रावधान किसी इस्लामिक देश में रहे तो तानाशाही आना कठिन नहीं है। भारतीय संविधान संशोधन भारत की समस्याओं का समाधान है। हमें कुछ और आगे जाकर यह भी निष्कर्ष निकालना होगा कि हम संविधान संशोधन के द्वारा परिवार गणराज्य–ग्राम गणराज्य दिशा में संविधान संशोधन चाहते हैं या संविधान की बाहरी कमजोरियों को दूर करना चाहते हैं।

मैं इस मामले में पूरी तरह स्पष्ट हूँ कि परिवार गणराज्य–ग्राम गणराज्य प्रणाली के लिए संविधान के मौलिक स्वरूप में संशोधन ही एकमात्र मार्ग है। यदि हम संविधान के मूल स्वरूप में कोई ऐसा संशोधन न करें जो लोक-नियंत्रित तंत्र की दिशा में आगे बढ़ रहा हो और केवल अन्य संशोधनों तक सीमित रहें, तो मैं ऐसे संशोधनों में अपनी सक्रियता/सहभागिता दर्ज नहीं करा सकता। और यदि ऐसा कोई संशोधन राजनीति को अधिक शक्तिसंपन्न बनाने की दिशा में होगा, तो मैं ऐसे संशोधन का विरोध करूंगा।

सर्वोदय ने गांधी की शराबबंदी और ग्राम गणराज्य की दो विपरीत मान्यताओं में से जब कानून से शराबबंदी के पक्ष में ज़िद की और ग्राम गणराज्य की नीतियों से किनारा कर लिया, तो मैंने अंत तक इस आत्मघाती कदम का विरोध किया। अब भी मेरी यही धारणा है कि हम सबको मिल-जुलकर संविधान में दो संशोधनों द्वारा उसके मूल स्वरूप में ही परिवर्तन कर देना चाहिए, जिससे तंत्र पर लोक को मजबूत आधार मिल सके।

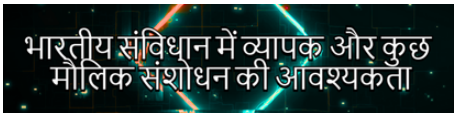

2. सुरेन्द्र बिष्ट, बम्बई

विचार – मैंने भारतीय पक्ष पत्रिका में प्रकाशित आपका संविधान समीक्षा संबंधी लेख पूरा पढ़ा। आपने भारतीय संविधान को बिल्कुल ही नंगा करके उसके प्रत्येक अंग को स्पष्ट कर दिया है। भारतीय पक्ष का यह अंक तो संग्रह करने योग्य है। आपको बहुत-बहुत बधाई।

उत्तर – मैंने यह लेख यह सोच कर लिखा था कि इस लेख के माध्यम से समाज में एक बहस छिड़ेगी, किन्तु वैसा इसलिए नहीं हो सका कि संविधान प्रशंसकों ने चुप्पी साध ली। वर्ष पंचानवे में मैं गोरखपुर सेंट एंड्रयूज कॉलेज में संविधान समीक्षा विषय का मुख्य वक्ता था। करीब डेढ़ सौ चुने हुए लोग उपस्थित थे, जिनमें अनेक वरिष्ठ वकील, प्रोफेसर भी थे। मैंने अपना यही भाषण वहाँ दिया, तो समाप्त होने के पूर्व ही वहाँ के बार के अध्यक्ष आवेश में आकर बीच में उठकर बोले कि उक्त तर्कों का विरोध करना तो संभव नहीं, किन्तु चूँकि संविधान के विरुद्ध तर्कपूर्ण बातें सुनना भी राष्ट्र के लिए अहितकर है, इसलिए वे अब सभा का बहिष्कार करते हैं। वे कई लोगों के समझाने के बाद भी नहीं माने। सभा उसके बाद भी चलती रही। विचारणीय है कि इतने अच्छे विद्वान भी संविधान को ही राष्ट्र और राष्ट्र को ही समाज मान लें, और अपनी मान्यता को प्रमाणित करने के लिए तर्कों के स्थान पर धौंस का उपयोग करें, तो ऐसे व्यक्ति को नासमझ या धूर्त न कहें तो और क्या कहें?

आज भी समाज में राजनेताओं के अनेक दलाल घूम-घूमकर इसी तरह का प्रचार करते रहते हैं कि भारतीय संविधान दुनिया का सर्वश्रेष्ठ संविधान है, या भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है आदि आदि। भारतीय संविधान ने राजनेताओं को पूरे समाज को लूटने के अनियंत्रित साधन उपलब्ध करा दिए हैं, और राजनेताओं ने उन साधनों का कुछ भाग अपराधियों को सौंप दिया है। ये राजनेता और अपराधी तत्व तो संविधान की बढ़-चढ़ कर प्रशंसा करेंगे ही। किन्तु अन्य विद्वान नामधारी संविधान प्रशंसकों को तो मेरे प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए था, किन्तु वे लोग भी दुम दबाकर बैठ गए। लगता है कि या तो उनके पास उत्तर का अभाव है, या वे किसी राजनेता द्वारा किसी पहल की प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

वस्तुस्थिति चाहे जो हो, लेकिन इतना स्पष्ट है कि धीरे-धीरे भारतीय जनमानस भारतीय संविधान में व्यापक और कुछ मौलिक संशोधन की आवश्यकता महसूस करने लगा है। अब धीरे-धीरे राजनेताओं के दलाल संविधान समर्थकों की भी आवाज कमजोर हो रही है। आवश्यकता है कि आप सब राष्ट्रभक्त लोग अपनी आवाज को और अधिक जोर से बुलंद करें, जिससे कि जनमानस को यह आवाज और जल्दी सुनाई देने लगे।

3. श्री गोपाल शर्मा 'धीरज', बम्बई

प्रश्न – आपने ज्ञानतत्व के अंत में एक वाक्य लिखा है कि हमारा संविधान रूपी भगवान संसद की जेल में बंद है। उसे जेल से मुक्त कराना हमारी प्राथमिकता होनी चाहिए। मेरे विचार में आपने भारतीय संविधान को भगवान लिखकर भारी भूल की है। यह संविधान तो अंग्रेजों ने अपने हित में बनाया था। साठ वर्षों में उस संविधान के परिणाम भी हम देख चुके हैं। ऐसे रद्दी संविधान को आपने भगवान जैसा उच्च पद कैसे दे दिया, यह समझ में नहीं आया। कृपया सुधार करें।

उत्तर – किसी भी इकाई का एक निश्चित संविधान होता है, जिसके अनुसार ही उस इकाई की व्यवस्था होती है। उक्त इकाई ही संविधान बनाती है और उक्त संविधान का पालन भी करती है। उक्त सम्पूर्ण इकाई को ही संविधान में संशोधन के भी अधिकार होते हैं। कोई बाहर की इकाई उस इकाई को संविधान संशोधन की सलाह दे सकती है, मदद कर सकती है, किन्तु बाध्य नहीं कर सकती। संविधान लिखित भी हो सकता है और अलिखित भी। प्रत्येक इकाई का कोई न कोई संविधान तो होता ही है, चाहे वह इकाई व्यक्ति हो या समूह, चाहे वह इकाई तानाशाह ही क्यों न हो।

जब संविधान बनाने वाली इकाई अलग हो और पालन करने वाली अलग, तो ऐसी पालन करने वाली इकाई को ग़ुलाम कहते हैं। संविधान कभी समाप्त नहीं होता। यदि संविधान बदलता है तो उसकी जगह कोई अन्य संविधान आ जाता है। जब तक संविधान के साथ कोई अन्य शब्द नहीं जुड़ता, तब तक संविधान का अर्थ बहुत व्यापक होता है। संविधान में से यदि "संविधान" को निकाल दिया जाए, तब भी बचा हुआ भाग संविधान ही होता है, और यदि संविधान में व्यापक विचार जोड़ दिया जाए, तब भी वह संविधान ही रहता है। मैंने संविधान को भगवान लिखा है, उसका आशय उस संविधान की पुस्तक से नहीं है जो अंग्रेजों के साथ मिलकर हमारे देश के कुछ नेताओं ने लिखी। अंग्रेजों ने अपनी मर्जी से एक कमेटी बनाई, जिसमें जनता की कोई राय नहीं ली गई। उस कमेटी ने अंग्रेजों का ध्यान रखकर एक संविधान बना दिया। न संविधान बनने में समाज की कोई भूमिका रही, न बनने के बाद कभी राय ली गई। यहाँ तक कि संविधान संशोधन तक में जनता की कभी राय नहीं ली गई। पता नहीं यह कैसा लोकतंत्र है। जिस संविधान में संशोधन/परिवर्तन के अंतिम अधिकार संसद के पास हों, वह संविधान कैद में ही माना जाना चाहिए।

आज जो संविधान लागू है, उसमें किसी तरह से संशोधन के अधिकार हमारे पास नहीं हैं। इसीलिए मैंने लिखा कि हमारा भगवान रूपी संविधान संसद रूपी जेलखाने में कैद है। संसद उसमें मनमाने संशोधन करती है और हम पर थोपती रहती है। हमारा भगवान जब जेल से मुक्त होगा, तब वह हमारा वास्तविक भगवान होगा, क्योंकि तब हम आवश्यकतानुसार उसमें संशोधन करने को स्वतंत्र होंगे। यदि मेरे लिखने में कोई भाषा संबंधी त्रुटि हो तो आप सलाह देने की कृपा करें। भावनाएँ तो मेरी और आपकी एक ही हैं।

4. श्री जगदीश गांधी, लखनऊ

विचार – भारतीय संविधान दुनिया का अकेला ऐसा संविधान है जिसके मूल स्वरूप में धारा 51 को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह धारा भारत को विश्व समुदाय का अंग बने रहने तथा विश्व व्यवस्था को स्वीकार करने हेतु प्रेरित करती है। इस धारा का मूल उद्देश्य भारतीय जनमानस को विश्व सरकार के महत्व की ओर ले जाने का रहा है। इसके अनुसार हमारी राष्ट्रीय स्वतंत्रता पूरी तरह निरंकुश नहीं है। वह स्वतंत्रता विश्व व्यवस्था का एक भाग है। लखनऊ स्थित हमारे स्कूल में 10 से 14 दिसम्बर तक दुनिया के 71 देशों से पधारे मुख्य न्यायाधीशों, न्यायाधीशों तथा शांति प्रचारकों ने बैठकर अंतरराष्ट्रीय कानून व्यवस्था और विश्व सरकार की आवश्यकता पर गंभीर विचार-मंथन किया। निष्कर्ष के रूप में माना गया कि भारतीय संविधान की धारा 51 ही दुनिया की सभी समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रशस्त करती है। इस अंतरराष्ट्रीय ऐतिहासिक सम्मेलन में आए हुए प्रतिनिधियों ने गहन चिंतन-मनन के बाद यह निष्कर्ष निकाला। यह निष्कर्ष विश्व स्तरीय समस्याओं के समाधान की शुरुआत हो सकता है। आप निष्कर्षों को पढ़कर अपने विचार दें।

उत्तर – मैं बचपन से ही महसूस करता हूँ कि व्यक्ति से लेकर विश्व मानव समाज तक एक कड़ी जुड़ती हुई होनी चाहिए जो एक-दूसरे की पूरक भी हो और नियंत्रक भी। इन सभी इकाइयों की अपनी-अपनी निश्चित सीमाएँ हों — जिस सीमा का कोई इकाई यदि अतिक्रमण करे तो ऊपर की इकाई उस अतिक्रमण को रोके, और यदि वह इकाई अपनी सीमा में हो तो कोई भी अन्य इकाई उसमें हस्तक्षेप न करे। ऐसी इकाइयाँ घोषित करके उनके अधिकारों का विभाजन हो जाना ही उचित व्यवस्था है। दुर्भाग्य से व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक तो यह अधिकार-विभाजन की कड़ी कुछ टूटी-फूटी अवस्था में दिखती भी है, किन्तु राष्ट्र के बाद तो यह कड़ी पूरी तरह ही समाप्त हो गई है। परिणामस्वरूप राष्ट्र की स्वच्छंदता जब दूसरे राष्ट्र के मामले में हस्तक्षेप करने लगती है, तब हमारे पास उस स्वच्छंदता को रोकने का कोई उपाय नहीं रहता। इसी तरह, राष्ट्र जब अपनी ही नीचे वाली इकाई पर भी अत्याचार करने लगे तो हम सिवाय बदनाम करने के और कुछ नहीं कर सकते। आज तक दुनिया में सर्वाधिक अन्याय-अत्याचार इसी अनियंत्रित राष्ट्रवाद की अवधारणा से ही हुआ है और हो रहा है।

ऐसी स्थिति में इस राष्ट्रवाद की कड़ी को आगे बढ़ाकर विश्व सरकार तक जोड़ने का प्रयत्न पूरी तरह सराहनीय कार्य है। मैं इस प्रयत्न का पूरा समर्थन करता हूँ तथा सहयोग का वचन देता हूँ। हम लोगों की टीम ने मिलकर जो भारत का प्रस्तावित संविधान बनाया और प्रचारित किया है, उसमें धारा 158में हमने इस विश्व व्यवस्था के महत्व को शामिल किया है।

धारा 158 – किसी अन्य देश से विवाद की स्थिति में भारत सरकार तथा संसद पंच-फैसले या संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णय को स्वीकार करेगी।

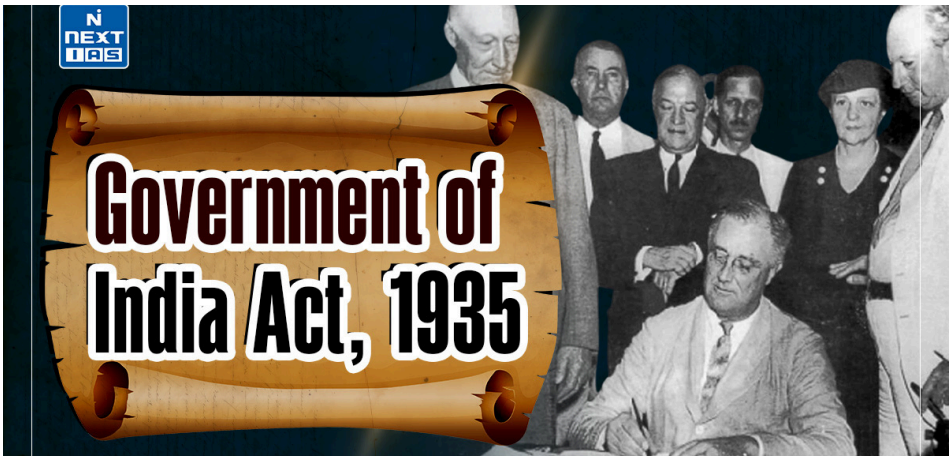

5. श्री रामस्वरूप झंवर, शास्त्री नगर विस्तार, भीलवाड़ा, राजस्थान

प्रश्न:

1.भारत में राजनेताओं ने बड़ी ही चालाकी से डॉ. भीमराव अंबेडकर द्वारा बनाए गए संविधान में मनमाने संशोधन किए और उसका लाभ उठाया। आज भारतीय लोकतंत्र अब्राहम लिंकन की परिभाषा को भी झूठ सिद्ध कर रहा है।

2.कुछ वर्ष पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कहा कि वे कमजोर नहीं हैं, मजबूर हैं, और यह मजबूरी गठबंधन की है।

3.सी.वी.सी. के पद पर थॉमस की नियुक्ति में प्रधानमंत्री द्वारा ज़िम्मेदारी स्वीकारने संबंधी विषय पर भी प्रकाश डालें।

उत्तर:

यह कहना पूरी तरह गलत है कि डॉ. भीमराव अंबेडकर ने संविधान लिखा। सच्चाई यह है कि डॉ. अंबेडकर संविधान की ड्राफ्टिंग कमेटी के चेयरमैन मात्र थे। मैं पूरी तरह आश्वस्त हूँ कि यदि अंबेडकर जी संविधान लिखते तो या तो इतना रद्दी संविधान नहीं बनता या अंबेडकर जी की नीयत खराब मान ली जाती। आप विचार कीजिए कि संविधान में श्रम को महत्व न देकर जाति को आरक्षण दिया गया, जबकि दुनिया जानती है कि शोषित कही जाने वाली सभी जातियों की अधिकांश आबादी सत्तर वर्ष बाद आज तक भी श्रमजीवी ही है।

परिणाम क्या हुआ?

नई व्यवस्था में सत्तर वर्ष बाद भी इन जातियों के बुद्धिजीवी सवर्णों के समकक्ष हो गए और शेष 90 प्रतिशत श्रमजीवी आबादी आज भी गरीबी रेखा से नीचे ही है।

डॉ. अंबेडकर मानवीय श्रम को महत्वपूर्ण मानते थे। इसी तरह डॉ. अंबेडकर जाति प्रथा के विरोधी थे और ऊँच-नीच के भेद को समाप्त करना चाहते थे। बड़ी मुश्किल से अंबेडकर जी दस वर्ष की समय-सीमा तक जातीय आरक्षण हेतु सहमत हुए थे। लेकिन बार-बार संविधान संशोधन द्वारा आरक्षण की सीमा बढ़ा-बढ़ाकर जातिवाद को पुनर्जीवित करने का कुचक्र किया गया। परिणाम यह हुआ कि कुछ गिने-चुने 10 प्रतिशत लोगों की तो आरक्षण की लॉटरी खुल गई और 90 प्रतिशत श्रम प्रधान लोग आज भी अपनी जातियों को ढोने में ही गौरव महसूस कर रहे हैं।

इस संविधान में है क्या? संविधान कभी यह स्पष्ट नहीं करता कि संसद लोक का प्रतिनिधित्व करती है अथवा तंत्र का। संसद सारा काम तो तंत्र के समान करती है और मौका पड़ने पर स्वयं को लोक कहने लग जाती है। क्या अंबेडकर ऐसी भूल कर सकते थे?

भारत का सम्पूर्ण सवर्ण और अवर्ण बुद्धिजीवी इस संविधान को अंबेडकर का संविधान कह कर समाज में भ्रम पैदा करता रहता है क्योंकि सत्तर वर्षों तक बुद्धिजीवियों को समाज को लूटने-खाने की सारी सुविधा इसी संविधान ने ही तो दी है। यदि हम यह बात मान लें कि यह संविधान वास्तव में अंबेडकर का ही बनाया हुआ है तो मेरे विचार में अंबेडकर बिल्कुल ही अयोग्य व्यक्ति थे। इतना रद्दी संविधान बनाकर समाज पर थोपने का धृष्ट कार्य अंबेडकर नहीं कर सकते थे और यदि उन्होंने ही किया, तो वे निंदा के पात्र हैं, प्रशंसा के नहीं।

लोकतंत्र की अब्राहम लिंकन की परिभाषा बदलने लायक है। अब लोकतंत्र की परिभाषा – "लोक-नियंत्रित तंत्र" के रूप में बननी चाहिए। आप अपने विचार लिखिएगा।

प्रधानमंत्री ने स्वयं को कमजोर न कहकर मजबूर कहा – यह बात तो सच ही है। जो किसी एक व्यक्ति द्वारा चुना गया हो और जिसके पैर में करूणानिधि सरीखे सौ किलो का व्यक्ति बंधा हो, उसे मजबूरी स्वीकार करनी ही चाहिए।

सी.वी.सी. थॉमस की नियुक्ति में मनमोहन सिंह ने लोकतांत्रिक प्रक्रिया की अनदेखी करके कुछ मनमानी करने की कोशिश की, जो इंदिरा नेहरू काल के लिए तो प्रशंसा का आधार था, किन्तु अब मनमोहन सिंह साठ वर्ष बाद लोकतंत्र ला रहे हैं तो दोनों काम एक साथ नहीं चल सकते।

हमारे पास दो तरीके हैं:

1.जो सही दिखे वह किया जाए, चाहे तरीका सही हो या गलत।

2.सही तरीके से किया जाए, चाहे कार्य सही हो या गलत।

मनमोहन सिंह के पूर्व नेहरू से अटल जी तक पहले मार्ग पर चलने की कोशिश की गई। अब मनमोहन सिंह दूसरे तरीके पर चलना शुरू किए हैं।

सी.वी.सी. मामले में सुप्रीम कोर्ट ने ठीक झटका दिया है और मनमोहन सिंह ने बिना लाग-लपेट के भूल स्वीकार की है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

6. प्रश्न – आप संविधान के मामले में एक गंभीर विचारक हैं। आप कुछ सूत्र रूप में और संक्षेप में लिखिए तो हमें सुविधा होगी।

उत्तर –

1.व्यवस्था के लिये समाज द्वारा बनाई गई किसी मूर्त इकाई को राज्य या सरकार कहते हैं।

2.व्यवस्था समाज की होती है और कार्यान्वयन सरकार का।

3.राज्य के अधिकार, हस्तक्षेप तथा दायित्वों की अधिकतम सीमाएँ निश्चित करने वाले दस्तावेज को संविधान कहते हैं। संविधान और कानून अलग-अलग होते हैं। संविधान में राज्य के अधिकतम और व्यक्ति के न्यूनतम अधिकारों की सीमाएँ निश्चित होती हैं जबकि कानून राज्य के न्यूनतम और समाज के अधिकतम अधिकारों की सीमाएँ निश्चित करता है।

4.समाज सम्पूर्ण विश्व का प्रतिनिधित्व करता है और वर्तमान समय में सरकार समाज का। अतः सम्पूर्ण विश्व का एक ही संविधान होना चाहिये और एक ही सरकार। समाज का कोई स्थिर स्वरूप न होने से राष्ट्रों ने स्वयं को समाज घोषित कर दिया जो अस्थायी स्वरूप है।

5.किसी भी संविधान के दो गुण निश्चित हैं जो उसे संतुलित बनाते हैं-

1.न तो इतना लचीला हो कि शासन ही उच्छृंखल हो जाये।

2.न तो इतना कठोर हो कि शासन ठीक से नियंत्रण ही न कर सके।

6.किसी भी संविधान की सफलता की एक मात्र कसौटी: प्रामाणिकता है - शासन द्वारा व्यक्ति के मूल अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी। यदि चरित्र पतन होता है तो वह संविधान की विफलता मानी जायेगी।

7.चरित्र पतन के दो ही कारण हो सकते हैं - समाज पर कठोर नियंत्रण जिससे सत्ताधीशों का चरित्र गिर जाये अथवा नियंत्रण का अभाव जिससे नागरिकों का चरित्र गिरता है।

8.भारतीय संविधान दोनों ही कसौटियों पर चरित्र पतन के लिये उत्तरदायी है।

9.संविधान की अपेक्षा लागू करने वालों को दोष देने का कार्य हास्यप्रद और वैसा ही बेतुका है जैसे पागलखाने के डॉक्टर का यह तर्क कि रोगी उसके कहे को समझता ही नहीं। संविधान की आवश्यकता ही ऐसे गलत चरित्र वालों पर नियंत्रण हेतु है। यदि सब लोग स्वयं ही ठीक हो जायें तो संविधान की आवश्यकता ही क्या है?

10.वर्तमान संविधान निम्न कारणों से असफल हुआ -

1. अपराध नियंत्रण की अपेक्षा जनकल्याण को प्राथमिकता।
2. अस्पष्ट भाषा, द्विअर्थी भाषा।
3. अस्पष्ट उद्देश्य, धाराओं के बीच अंतर्विरोध।
4. वर्ग मान्यता।
5. उच्च आदर्शवादी स्वरूप।
6. व्यवस्था की इकाइयों में परिवार का अभाव।
7. राज्य की भूमिका मैनेजर की न होकर कस्टोडियन की होना।
8. लोकतंत्र की परिभाषा "लोक नियंत्रित तंत्र" से बदलकर "लोक नियुक्त तंत्र" तक सीमित करना।

7. श्री ओम प्रकाश पांडेय 'मंजुल', प्रधानाचार्य, भारत इंटर कॉलेज, बरेली, उत्तर प्रदेश

प्रश्न – 'भावी भारत का संविधान: एक समीक्षा' नामक ग्रंथ को पाकर कृतकृत्य हुआ। आपकी कृपा के प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करूँ यह समझ में नहीं आ रहा है। समझता हूँ यह जीवन की विडम्बना ही थी कि उक्त पुस्तक मुझे सन 1999 के बजाय 13 वर्ष बाद 2013 में प्राप्त हुई (कहते हैं 12 वर्षों के बाद, यानी 13 वर्ष में तो घूरे के दिन भी फिर जाते हैं)।

पुस्तक को पढ़कर अच्छा ही नहीं, मजा आ गया। इसमें आदर्शोन्मुख यथार्थ होने के बावजूद पढ़ने में गल्प जैसा आनंद आता है। मैं इसे 'संविधानात्मक उपन्यास' भी कह सकता हूँ। कहीं-कहीं मुझे इसमें मेरी कल्पना अभासित हुई – राहुल सांकृत्यायन की यूटोपिया: बाईसवीं सदी की भांति। हालांकि उसमें बाईसवीं सदी की सामाजिक व्यवस्था की काल्पनिक झांकी प्रस्तुत की गई है जबकि इसमें प्रशासनिक संविधान की रूपरेखा। दूसरा अंतर यह भी है कि जहाँ 50 वर्ष पूर्व रचित बाईसवीं सदी की झांकी की न्यूनतम झलक का अल्पतम आभास भी अब तक नहीं हुआ है, वहीं इन दिनों भारतीय संविधान में आपके विचारानुकूल कई संशोधन हो चुके हैं या हो रहे हैं। कृत्रिम ऊर्जा के स्रोत गैस पर सब्सिडी की खंडित व्यवस्था इसका अद्यतन एवं ज्वलंत उदाहरण है, भले ही सरकार यह न माने कि उसके द्वारा शनैः शनैः लागू किए जाने वाले सुधारों के पीछे आपके सुझाव हैं। सो भावी भारत का संविधान निश्चित रूप से यूटोपिया नहीं, निसंदेह एक भवितव्यता है।

देश भर के चुने हुए 100 विद्वानों ने 15 वर्षों में विचार-मंथन के बाद वास्तव में भावी भारत का संविधान नामक नवनीत निकाल कर प्रस्तुत किया है। इसमें संवैधानिक संशोधन के द्वारा सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन हेतु जो कुछ भी है, प्रायः सत्य, शिवम्, सुन्दरम् है। भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से यह श्रेष्ठ एवं सशक्त है। भावों का तो कहना ही क्या – अभिव्यक्ति का माध्यम भी परिमार्जित, साहित्यिक एवं बोधगम्य है। संपूर्ण पुस्तक को पढ़कर मुझे लगा कि आपकी भाषा पर तो सुदृढ़ पकड़ है ही, आप एक विद्वान, दूरदर्शी एवं अनुभवी समाजशास्त्री हैं। समाजशास्त्री से अधिक आप मुझे राजनीतिज्ञ लगे और राजनीतिज्ञ से अधिक विधिवेता, और विधिवेता से भी अधिक अर्थशास्त्री आदि आदि।

आपकी सबसे बड़ी विशेषता है कि आपके तर्क सबको संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। वे आग्रह, पूर्वाग्रह और दुराग्रह से दूर, अति संतुलित होते हैं। आप से अधिक सशक्त, सतर्क एवं सुतर्क विश्लेषण एवं विवेचना मैंने आचार्य रजनीश में देखी है, अन्य किसी में नहीं। हालांकि आचार्य रजनीश का क्षेत्र अध्यात्म का रहा है।

आपकी हार्दिक उदारता का इससे अच्छा उदाहरण क्या हो सकता है कि पृष्ठ 46 पर आप स्वयं कहते हैं – ''मेरे विचार न तो अंतिम हैं, न ही आदर्श।''

सम्पूर्ण ग्रंथ में ग्राम स्वराज्य, सत्ता का विकेंद्रीकरण, सत्ता केंद्रों की व्यवस्था एवं श्रममूल्य के महत्व आदि की बातें इतनी अधिक बार एवं इतनी शक्ति के साथ कही गई हैं कि पाठक का मस्तिष्क इनसे अनुगुंजित हो जाता है। मूल अधिकार, महिला, शासन-प्रणाली, शस्त्र-नियमन व प्रयोग, तथा न्याय व न्याय-व्यवस्था पर आपके विचार चमत्कारपूर्ण एवं उपयोगी हैं। समाज पर राज्य के क्रमिक प्रभाव के विकास विषयक चिंतन में आप हॉब्स, लॉक और रूसो की विचारधारा के काफी निकट हैं।

उत्तर – आपके पत्र के पूर्वार्ध पर मुझे कुछ नहीं कहना है। मेरे बाइस वर्षों के उत्तरार्ध जीवन में आप दूसरे व्यक्ति मिले जिन्होंने भावी भारत का संविधान पुस्तक की इतनी बारीक समीक्षा की। उसमें इतने वर्ष बीतने के बाद भी किसी संशोधन की अब तक आवश्यकता नहीं पड़ी। इसके विपरीत भारत सरकार ने अपनी नीतियों में हमारे यूटोपिया की कई बातें अक्षरशः लागू कर ली हैं जैसे – आधार पहचान पत्र, कैश सब्सिडी, नरेगा, डिजिटल इंडिया आदि। अन्य बातों पर भी विचार चल रहा है। आश्चर्य तो यह है कि जो बातें हम तीस-चालीस वर्ष पूर्व ही निष्कर्ष के रूप में घोषित कर चुके हैं, वे बातें अब सरकारें मजबूरी में कर रही हैं या अब भी करने की सोच रही हैं। आपने मेरे विचार की तुलना हॉब्स, लॉक, रूसो आदि से की है। मैंने इतिहास पढ़ा नहीं। मैंने इन विचारकों को कभी पढ़ा नहीं। आपके लिखने से ही मुझे पता चला।

आपने आत्महत्या को पाप भी लिखा और अपराध भी। मेरे विचार में आत्महत्या असामाजिक है, पाप है, किन्तु अपराध नहीं, क्योंकि आत्महत्या किसी अन्य के मौलिक अधिकारों का न उल्लंघन है, न ही आक्रमण। किसी भी कार्य को अपराध तभी कहा जा सकता है जब वह किसी अन्य के मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करे। किसी अन्य के संवैधानिक अधिकारों का उल्लंघन गैरकानूनी होता है तथा सामाजिक अधिकारों का उल्लंघन अनैतिक, असामाजिक या पाप। मैं आपसे सहमत हूँ कि जीवन और मरण में ईश्वर का एकाधिकार है, तो फिर सरकार या कोई अन्य ऐसे मामलों में सीमा से आगे जाकर हस्तक्षेप क्यों करे?

गोहत्या पर आपकी मेरे विचारों से असहमति है। मेरा विचार है कि सिर्फ मनुष्य ही एकमात्र है जिसे व्यवस्था में मौलिक अधिकार प्राप्त होते हैं। किसी भी पशु को - चाहे वह गाय ही क्यों न हो - या तो संवैधानिक अधिकार हो सकते हैं या सामाजिक, किन्तु मौलिक अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। गाय को संवैधानिक अधिकार देने की अपेक्षा सामाजिक अधिकार देना अधिक अच्छा है, क्योंकि गाय को संवैधानिक अधिकार देने से समान नागरिक संहिता पर विपरीत प्रभाव होगा। अतः मेरे विचार में गाय को सामाजिक सुरक्षा देना ही ठीक रहेगा। संवैधानिक सुरक्षा से लाभ कम, हानि अधिक होगी। मेरी पूरी पुस्तक के दो भाग हैं। एक से चौबीस पृष्ठ तक प्रस्तावित संविधान के मूल एक सौ पैंसठ अनुच्छेद हैं तथा पृष्ठ पच्चीस से एक सौ दस तक इस प्रस्तावित संविधान की समीक्षा है। मैंने प्रस्तावित संविधान में एक जगह राष्ट्रपति द्वारा अपना त्यागपत्र देते समय हस्तलिखित पत्र की बात की है, जो विशेष सतर्कता के अतिरिक्त कुछ अधिक महत्व की नहीं है।

मैंने दलीय व्यवस्था की बात नहीं की है क्योंकि दलीय व्यवस्था पूरी तरह भारतीय संविधान से बाहर थी। कहीं भी भारत के वर्तमान संविधान में दलीय व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया गया है। दलीय व्यवस्था का कहीं भी संविधान में विरोध तो नहीं है, किन्तु असंवैधानिक अवश्य है क्योंकि संविधान के अनुसार संसद चुने हुए व्यक्तियों से बनेगी, न कि दलीय प्रतिनिधियों द्वारा।

राजीव गांधी द्वारा लाया गया दल-बदल विरोधी संशोधन पूरी तरह असंवैधानिक तो है ही, साथ में संविधान-विरोधी भी है, क्योंकि यह कानून संसद के प्रत्येक सदस्य को संसद में अपना स्वतंत्र विचार रखने की आज़ादी पर अंकुश लगाता है। दल द्वारा जारी व्हीप स्वयं में संविधान के विपरीत है। दल बनाना या उस तरह का संगठन बनाना जनप्रतिनिधित्व कानून का भाग है, संविधान का नहीं।

निवेदन की जगह सिफारिश करने पर विचार किया जा सकता है। किन्तु परिवार, गाँव, जिला, प्रदेश, लोकसभा, परिवार सभा आदि की सदस्य संख्या को आबादी के साथ जोड़ना आवश्यक नहीं। वह तो प्रारंभ से ही जुड़ा हुआ है। पूरे भारत में निन्यानवे प्रदेश या निन्यानवे जिले, जिले में निन्यानवे गाँव की संख्या निश्चित है। गाँव की न्यूनतम आबादी और अधिकतम आबादी के बीच एक से तीन तक की सीमा है। इसमें आबादी घटने-बढ़ने से कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। जब यह किताब लिखी गई तब आबादी सौ करोड़ थी, गाँव की औसत आबादी एक हज़ार, अर्थात पाँच सौ से पंद्रह सौ के बीच सीमित थी। बाद में अब आबादी 140 करोड़ होने से औसत 1400, अर्थात 700 से 2100 के बीच हो जाएगी।

आप एक गंभीर विचारक हैं। किसी सुझाव को अव्यावहारिक कहने के बाद कोई सुझाव न देना स्वयं में अव्यावहारिक है। अपराध नियंत्रण के लिए संविधान में कोई समयबद्ध परिणाम मूलक सुझाव शामिल करना हम-आप सबकी मजबूरी है। यदि गुप्त मुकदमा प्रणाली या परिवार के सदस्यों को भी अपराध नियंत्रण में शामिल करना अव्यावहारिक है, तो आप ऐसे सुझाव दें जो अपराध नियंत्रण के लिए इनकी अपेक्षा अधिक व्यावहारिक हों। मुझे या हमारी टीम को वर्षों विचार करने के बाद भी इससे अधिक व्यावहारिक मार्ग न मिलने से ही हमने इस अव्यावहारिक सरीखे दिखने वाले सुझाव को व्यावहारिक बनाने का विचार दिया है। सच्चाई यह है कि नए सुझावों को अव्यावहारिक कहना सुनने में तो बहुत आसान और अच्छा है, किन्तु विकल्प कठिन।

वर्तमान संविधान राज्य से वेलफेयर स्टेट की उम्मीद करता है। संविधान-निर्माताओं को अपना दिमाग न लगाकर सिर्फ नकल करनी थी। पश्चिम के संविधान में वेलफेयर स्टेट लिखा था तो इन्होंने इसकी नकल कर दी। संविधान-निर्माताओं को दायित्व तथा स्वैच्छिक कर्तव्य के बीच फर्क करना भी नहीं आता था। सच्चाई यह है कि सुरक्षा और न्याय राज्य का दायित्व होता है तथा अन्य वेलफेयर के काम स्वैच्छिक कर्तव्य। सुरक्षा और न्याय के लिए राज्य टैक्स ले सकता है, किन्तु स्वैच्छिक कर्तव्य के लिए टैक्स नहीं ले सकता। इसके लिए वह मात्र दान, चंदा या फीस ही ले सकता है। दो प्रतिशत संपत्ति कर सुरक्षा और न्याय के लिए पर्याप्त है। मुझे तो लगता है कि 2% से भी कम टैक्स में सरकार के खर्च पूरे हो सकते हैं।

राष्ट्रपति की भूमिका अलग है और प्रधानमंत्री की अलग। सामान्य काल में मंत्रिमंडल की सलाह पर राष्ट्रपति काम करने को बाध्य है, किन्तु आपातकाल में राष्ट्रपति के लिए आवश्यक है कि वह मंत्रिमंडल, उपराष्ट्रपति तथा सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश को मिलाकर कार्य करे। सिर्फ मंत्रिमंडल ही राष्ट्रपति को न तो आपातकाल के लिए बाध्य कर सकता है, न ही मंत्रिमंडल विशेष अधिकार संपन्न हो सकता है। मंत्रिमंडल की सलाह पर राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा सर्वोच्च न्यायाधीश की सलाह से आपातकाल से निपटने की योजना बनाएगा, जिसमें मंत्रिमंडल की सलाह का महत्व एक तिहाई तक ही सीमित होगा। ये तीनों मिलकर आपातकाल में निर्णय करेंगे। इस तरह प्रधानमंत्री इस योजना में शामिल है ही। लोकसभा या राज्यसभा के संचालन से राष्ट्रपति को दूर रखना अच्छी बात है, यही मानकर मैंने संचालन के लिए लोकसभा अध्यक्ष को रखा है।

शस्त्रों के संबंध में आपने जो तर्क दिया है उसका आशय मैं नहीं समझ सका। आप विस्तार देंगे तब लिख सकूंगा। वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था में वेलफेयर राज्य का दायित्व होने से सुरक्षा और न्याय उसके स्वैच्छिक कर्तव्य मात्र हैं। राज्य सुरक्षा के लिए शस्त्र देकर नागरिक पर भी सुरक्षा का दायित्व विभाजित करती है। हमारा संविधान इसके विपरीत है। सुरक्षा और न्याय में नागरिक सिर्फ स्वैच्छिक सहायक ही हो सकता है। दायित्व तो पूरी तरह राज्य का ही है। इसीलिए किसी नागरिक के लिए अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए शस्त्र रखने पर पूर्ण प्रतिबंध लगाया गया है। यदि दंगों के समय या आपत्ति काल में शस्त्र अनावश्यक या विध्वंसक है तो सामान्य काल में क्यों नहीं?

अंत में, आप अच्छे लोगों को संसद में भेजने की वकालत करके उस प्रचार के शिकार दिखते हैं जो मेरी पूरी की पूरी धारणा के बिल्कुल विपरीत है। आज भारत का प्रत्येक राजनेता तथा धर्मगुरु अच्छे लोगों को आगे लाकर उन्हें व्यवस्था की पूरी जिम्मेदारी सौंपने की वर्तमान व्यवस्था के पक्ष में है। बाबा रामदेव सरीखे लोग तो इस स्वार्थ के पक्ष में हैं ही, किन्तु अन्ना जी सरीखे लोग भी स्वराज्य की बात करते फिरते, अच्छे लोगों की बात करने लगते हैं। आप भी उसी लाइन पर गए लगते हैं।

संचालक और संचालित के बीच दूरी घटनी ही स्वराज्य व्यवस्था है। यदि संचालक की नीयत खराब हो तो इस दूरी को अधिकतम घटाना सर्वोच्च प्राथमिकता है। अच्छे लोगों को चुनकर उन्हें अधिकार संपन्न बनाने की प्रणाली पूरी तरह असफल है। उनके अधिकार, दायित्व और हस्तक्षेप को कम करना ही हमारा पहला काम होना चाहिए। मैं कई दशकों से लगातार लिख रहा हूँ कि संचालक और संचालित के बीच का अंतर कम करिए। तथाकथित अच्छे लोग भी इस दूरी को कम करने में बाधक हैं। जनता अच्छे लोगों को चुनकर सारे अधिकार क्यों दे, क्योंकि यह प्रणाली फेल हो चुकी है। हम जिसे चुनेंगे उसे कितने अधिकार देना ठीक है – इसका निर्णय हम करेंगे या वो?

सैद्धांतिक रूप से, नीति निर्धारण में अच्छे लोगों का होना तानाशाही में तो आवश्यक है, किंतु

लोकतंत्र में नहीं – और स्वराज्य प्रणाली में तो बिल्कुल नहीं। लोकतंत्र में नीति निर्धारक एक सिस्टम बनाते हैं। उस सिस्टम के अंतर्गत कुछ अच्छे लोगों को चुनकर उन्हें कार्यान्वयन का दायित्व दिया जाता है। वर्तमान व्यवस्था के अंतर्गत अच्छे लोगों को चुनकर भेजने के पीछे ताक़त लगाना या तो धूर्तता है या मूर्खता। न सत्तर वर्षों में समाधान निकला न निकलेगा। यदि राजनेता और धर्मगुरु ऐसा कहें तो प्रतिवाद करने की ज़रूरत है, न कि हवा में बहने की। बंद करिए अच्छे लोगों को चुनने की कोशिश। चाहे संसद में बलात्कारी जाएँ या भ्रष्ट – यदि वे संसद के दायित्व, अधिकार और हस्तक्षेप को कम कर देंगे तो सब सुधर जाएगा। और यदि अच्छे लोग जाकर भी अपना पावर नहीं घटाएँगे, तो हमारी समस्याएँ बढ़नी निश्चित हैं।

चीन में मार्क्स, जर्मनी में हिटलर, इराक में सद्दाम सरीखे लोग जब तक सत्ता में रहे तब तक तो भगवान सरीखे अच्छे थे। इसीलिए भले ही मैं इस विषय में अकेला हूँ, लेकिन मैं अपनी बात पर मजबूती से डटा हूँ कि संचालक और संचालित के बीच की दूरी का घटना व्यवस्था परिवर्तन है, और अच्छे लोगों को भेजकर उन्हें अधिकार संपन्न बनाना घातक।

जिस तरह आपने मेहनत की है और प्रश्न उठाए हैं, उससे लगता है कि विचार-मंथन भी संभव है और मखन-मठा का पृथक्करण भी। इस संबंध में आपके नि:संकोच पत्रोत्तर की प्रतीक्षा रहेगी। भले ही अन्य विषयों पर कुछ कम भी चर्चा हो, किन्तु अच्छे लोगों का चुनाव एक बड़ी समस्या है, न कि समाधान, इस बात पर व्यापक चर्चा आवश्यक है।

8 प्रश्न - संविधान समीक्षा विषय पर बहुत विस्तृत चर्चा हो रही है। मुख्य रूप से दो प्रश्न उठे हैं:

(1) आपने कई बार भारतीय संविधान को समुद्र में डालने जैसा कहा है। आज उसे भगवान कह रहे हैं — यह परिवर्तन कैसे?

(2) क्या संविधान की तुलना भगवान से करना उचित है?

उत्तर – मैंने कभी नहीं कहा कि संविधान को समुद्र में डाल दिया जाए। बल्कि मैंने हमेशा यह कहा कि संवैधानिक तरीके से संविधान में व्यापक और मौलिक संशोधन करके वर्तमान संविधान को समुद्र में डाल देना चाहिए, क्योंकि यह संविधान समुद्र में जाने लायक ही है। मेरे विचार से कोई-न-

कोई संविधान तो रहेगा ही। मैंने भारतीय संविधान को भगवान नहीं कहा है, बल्कि संविधान को भगवान कहा है। स्पष्ट है कि प्रत्येक इकाई अपने ठीक-ठीक संचालन के लिए जो व्यवस्था बनाती है, उस व्यवस्था पर किसी संविधान के द्वारा ही उस इकाई का नियंत्रण होता है। इसका अर्थ हुआ कि उस इकाई के अंतर्गत आने वाले प्रत्येक नागरिक के लिए वह संविधान भगवान स्वरूप होगा। किन्तु यदि उस संविधान को उस इकाई की सहमति या इच्छा के विरुद्ध ऊपर से थोप दिया जाए तो वह थोपा हुआ संविधान भगवान नहीं माना जाएगा।

भारतीय संविधान गुलाम भारत में बनना शुरू हुआ तथा संविधान सभा का गठन भी अंग्रेजों ने ही किया था। स्वतंत्र भारत के नागरिकों की राय नहीं ली गई थी। स्वतंत्रता के बाद भी कभी संविधान सभा का गठन नागरिकों के द्वारा नहीं किया गया, बल्कि निर्वाचित संसद को ही संविधान सभा मान लिया गया। इसलिए ऐसे गुलामी के संविधान को अनंत काल तक स्वीकार नहीं किया जा सकता – विशेषकर तब, जब उसका परिणाम भी बिल्कुल विपरीत आ रहा हो।

पूरी दुनिया में समाज की मान्यता भ्रमपूर्ण बना दी गई है। समाज सर्वोच्च होता है, और धर्म, राष्ट्र, संविधान, यहाँ तक कि भगवान भी समाज से ऊपर नहीं हो सकते। किन्तु यह गलत धारणा प्रचारित की गई है कि समाज से ऊपर भगवान या धर्म-राष्ट्र आदि होते हैं। समाज ही भगवान को मान्यता देता है, और समाज ही संविधान को भी मान्यता देता है। इसका अर्थ हुआ कि समाज सबसे ऊपर है – भगवान से भी ऊपर। व्यक्ति भगवान को मानता है और नागरिक संविधान को। इस तरह संविधान और भगवान को समकक्ष भी कहा जा सकता है, क्योंकि किसी भी नागरिक के लिए तो संविधान ही सर्वोच्च होता है। यह मेरा व्यक्तिगत विचार है और इस पर आगे और चर्चा संभव है – क्योंकि मैं व्यक्ति और नागरिक को अलग-अलग देखता हूँ तथा भगवान को समाज से नीचे।

लोकतंत्र 'लोक' और 'तंत्र' से मिलकर बना है। वर्तमान में तंत्र का नेतृत्व राजनेताओं के पास है और लोक का समाज के पास। तंत्र ने संसद को लोकतंत्र का मंदिर बताकर उसमें संविधान को भगवान के रूप में प्रचारित किया है। राजनीतिज्ञ उस मंदिर के पुजारी बन गए हैं। मेरा इससे कुछ भिन्न मत है। मेरे मत में यह मंदिर और यह भगवान पुजारी का व्यवसाय बन गया है, जहाँ तिकड़म के अलावा कुछ नहीं है। हमारी आस्था का दुरुपयोग हो रहा है। यह संसद राजनेताओं की दुकान बन गई है। संविधान भी दुकानदारी का एक उपकरण मात्र है। राजनेताओं ने अपनी मनमर्जी से एक संविधान बनाकर उस मंदिर में स्थापित कर दिया है और हमारा काम है केवल राष्ट्रभक्ति के नाम पर टैक्स रूपी पैसा चढ़ाना।

अब समय आ गया है कि भगवान, मंदिर और पुजारी का यह त्रिकोण छिन्न-भिन्न हो। यह दुकानदारी इसी तरह नहीं चलनी चाहिए। इस संबंध में मेरा सुझाव है कि संविधान को राजनीतिज्ञ और संसद के एकाधिकार से मुक्त कराया जाए और समाज का संविधान से सीधा संपर्क हो, संवाद हो, नियंत्रण हो।

प्रश्न – राजनेताओं द्वारा आमतौर पर कहा जाता है कि भारतीय संविधान एक समुद्र के समान है जिसमें अनेक तरह के हीरे-मोती मौजूद हैं। यदि हम लोग उन्हें ना निकाल सके तो यह हमारी गलती है, समुद्र की या समुद्र बनाने वाले की नहीं।

उत्तर – मैं मान लेता हूँ कि भारतीय संविधान एक समुद्र के समान है जिसमें अनेक तरह के रत्न मौजूद हैं, लेकिन मैं यह बात जानना चाहता हूँ कि अभी तक उन हीरे-मोतियों का क्या उपयोग हो पाया? जो हीरे-मोती 140 करोड़ व्यक्तियों के लिए भोजन की व्यवस्था नहीं कर सकते, वे हीरे-मोती तो हमारे लिए कंकड़-पत्थर के समान अनुपयोगी हैं। यह समुद्र तो ऐसा है जो हमारी नदियों का सारा मीठा पानी लेकर उसे खारा बना देता है। अब ना हम उस पानी का कोई उपयोग कर सकते हैं, ना उससे खेती कर सकते हैं। यहाँ तक कि यदि हम उस पानी से स्नान कर लें, तब भी उस खारे पानी के दुष्प्रभाव को अन्य मीठे पानी से साफ करना पड़ता है।

इसलिए हमें समुद्र रूपी संविधान नहीं, बल्कि हमें मीठे पानी की झील सरीखा संविधान चाहिए।

नयी प्रस्तावित समाज व्यवस्था का स्वरूप

(1) पिछले वर्षों में दुनिया के प्रत्येक व्यक्ति में स्वार्थ की मात्रा लगातार बढ़ती जा रही है। भारत में भी यदि 140 करोड़ व्यक्तियों की जांच की जाए तो प्रत्येक व्यक्ति में लगातार स्वार्थ बढ़ रहा है। इस स्वार्थ बढ़ने के कारण ही अनेक अपराध भी बढ़ रहे हैं, अविश्वास और टकराव भी बढ़ रहा है क्योंकि स्वार्थ समस्याओं के समाधान में बाधक होता है। स्वार्थ भ्रष्टाचार बढ़ाता भी है और भ्रष्टाचार रोकने में बाधाएं भी पैदा करता है क्योंकि कोई भ्रष्टाचारी व्यवस्था भ्रष्टाचार को नहीं रोक सकती और भ्रष्टाचार की मात्रा बढ़ती जा रही है। भ्रष्टाचार बढ़ने का प्रमुख कारण है स्वार्थ। प्रत्येक व्यक्ति में स्वार्थ इसलिए बढ़ रहा है कि अब हम धीरे-धीरे व्यक्तिगत संपत्ति को अधिक प्रभावशाली बनाते जा रहे हैं। हर आदमी व्यक्तिगत संपत्ति के लिए लगातार लालायित है। यदि कोई संपत्ति सामूहिक होगी तो व्यक्ति में प्रतिस्पर्धा करने की इच्छा घट जाती है, इससे विकास रुकता है। इसलिए सामूहिक संपत्ति के सिद्धांत को अस्वीकार किया गया। साम्यवाद इसीलिए असफल हुआ क्योंकि वह सामूहिक संपत्ति का पक्षधर है। दूसरी ओर व्यक्तिगत संपत्ति का सिद्धांत इसलिए घातक हो रहा है कि वह स्वार्थ की मात्रा को बढ़ा रहा है। हम इसके समाधान के रूप में यह व्यवस्था बनाना चाहते हैं कि संपत्ति न तो व्यक्तिगत हो और न सामूहिक हो, बल्कि संपत्ति संयुक्त होनी चाहिए। और इस बात की बाध्यता होनी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत संपत्ति का मालिक न हो बल्कि कम से कम दो लोग उस संपत्ति के संयुक्त मालिक हों। इस व्यवस्था से हम सामूहिक संपत्ति को संशोधित करके और व्यक्तिगत संपत्ति की धारणा को रोक कर संयुक्त संपत्ति का प्रावधान लागू करेंगे।

(2) आदर्श समाज व्यवस्था में विचार सबसे ऊपर होता है। विचारों के बाद क्रिया होती है। विचार को मार्गदर्शन कहा जाता है और क्रियाशील लोगों में रक्षक, पालक और सेवक होते हैं। इस तरह विचारों को सबसे अधिक सम्मान प्राप्त होता है क्योंकि विचारकों के पास ज्ञान और त्याग, इन दोनों का संग्रह एक साथ होता है। यदि ज्ञान न हो और त्याग रहे तो वह भी उचित नहीं है, और ज्ञान रहे और त्याग न रहे तब भी उचित नहीं होता है। लेकिन दुनिया में एक जमाना आया जब विचारकों के स्थान पर राज्यशक्ति और उसके बाद धीरे-धीरे धनशक्ति महत्वपूर्ण होती चली गई। अब विचारकोंका प्रभाव नहीं रहा विचारकों का सम्मान नहीं रहा। ज्ञान की जगह धन और राजनीतिक ताकत को महत्व दिया जाने लगा और समाज में लगभग विचारकों का अभाव हो गया। तब समाज में एक असंतुलन पैदा हुआ। अभी तक यह बात सिद्ध नहीं हो चुकी है कि पहले विचारकों का अभाव हुआ, तब उनका सम्मान घटा या पहले सम्मान घटा तब अभाव हुआ – दोनों बातों में चाहे जो पहले हुई हो, लेकिन हुई जरूर, और उसका परिणाम हुआ कि ज्ञान की जगह शक्ति और धन महत्वपूर्ण होते चले गए। इस बुराई का लाभ उठाकर ही सेवक संस्कृति मजबूत हुई और सेवकों के नाम पर गुंडा तत्व ताकत में आ गया। वर्तमान भारत में तीन के बीच श्रेष्ठता की प्रतिस्पर्धा चल रही है। उनमें हैं: राजनीतिक शक्ति, धनशक्ति और गुंडा शक्ति। अब समय आ गया है कि हम नई व्यवस्था में फिर से विचारकों का एक वर्ग तैयार करें जिससे समाज में ज्ञान और त्याग का महत्व बढ़े। ज्ञान और त्याग जब तक समाज में उच्च सम्मान प्राप्त नहीं करेंगे, तब तक समाज की अराजकता का समाधान नहीं होगा। आइए, हम आप मिलकर मार्गदर्शकों को समाज में उचित सम्मान दें और मार्गदर्शकों का अभाव दूर करने का प्रयास करें।

(3) हम भारत की अर्थव्यवस्था पर विचार कर रहे हैं। भारत में लगातार आंतरिक रूप से रुपए का मूल्य प्रतिवर्ष घट जाता है। उस मूल्य ह्रास के कारण प्रतिवर्ष वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। इसे ही हम महंगाई कहते हैं, जबकि यह वास्तव में महंगाई नहीं होती – यह तो मुद्रा का अवमूल्यन होता है। इसे हम मुद्रा स्फीति कह सकते हैं। लेकिन इस शब्द को महंगाई के नाम से जोड़कर अनेक तरह के भ्रम पैदा किए जाते हैं। हम नई समाज व्यवस्था में एक स्थिर मूल्य की मान्यता करेंगे, जिसका अर्थ यह है कि वह मूल्य हमेशा स्थिर रहेगा और उसे हम मूल रुपया मानेंगे। मूल रुपया अलग होगा और प्रचलित रुपया अलग होगा। मूल रुपया सिर्फ रिकॉर्ड में रहेगा। यह मूल रुपया हम 1947 से भी मान्य कर सकते हैं और आज से भी शुरू कर सकते हैं – इसमें कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन उसके बाद प्रतिवर्ष मूल रुपए का मूल्य स्थिर रहेगा और बाजार में रुपए का मूल्य ऊपर-नीचे होता रहेगा। प्रतिवर्ष 1 अप्रैल को आभासी रुपए का मूल्य घोषित कर दिया जाएगा। मूल रुपए की तुलना में इस तरह भारत में प्रत्येक व्यक्ति को यह पता रहेगा कि मूल रुपए के आधार पर किसी वस्तु का मूल्य कितना है, मूल रुपए के आधार पर हमारी आय कितनी है। मूल

रुपया और आभासी रुपया को एक में मिला देने से जो भ्रम पैदा हो रहा है वह भ्रम पैदा नहीं होगा, बल्कि हर आदमी आर्थिक मामले में वास्तविकता से जानकार रहेगा। 75 वर्ष पहले के रुपए से अगर हम आज की तुलना करें तो एक मूल रुपया आज के हिसाब से ₹200 के बराबर है। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान समय में सोना, चांदी, जमीन, सरकारी कर्मचारी, नेताओं का वेतन – यह सब महंगा हुआ है और सारी उपभोक्ता वस्तुएं सस्ती हुई हैं। फिर भी पूंजीपति और सरकारी कर्मचारी महंगाई का रोना रोते हैं क्योंकि उनकी नीयत खराब है। यदि यह बात घोषित कर दी जाए कि वर्तमान समय में मूल रुपया बराबर ₹200 है और यह प्रतिवर्ष ₹10 या ₹15 बढ़ जाता है तो यह भ्रम दूर हो जाएगा, झूठ बोलने वालों की पोल खुल जाएगी। हमें प्रतिवर्ष लंबा चौड़ा बजट नहीं बनाना पड़ेगा।

(4) भारत में न्यायपालिका ओवरलोडेड है। किसी भी मामले में न्यायालय पर आम जनता को विश्वास नहीं रह गया है क्योंकि न्यायालय में विलंबित न्याय है, अस्पष्ट न्याय है। माँ संस्थान ने इस मुद्दे पर गंभीरता से विचार किया। इस गड़बड़ी के लिए न्यायपालिका विधायिका को दोष देती है और विधायिका न्यायपालिका को। वास्तव में दोनों ही कहीं ना कहीं दोषी हैं। लेकिन हम लोगों का कार्य सिर्फ इतना ही कहना नहीं है कि दोषी कौन है, बल्कि हम लोग माँ संस्थान के माध्यम से इस तरह की समस्याओं का समाधान भी बताते हैं।

हम लोगों का यह मानना है कि यदि हम अपनी सामाजिक और संवैधानिक व्यवस्था में दो-तीन महत्वपूर्ण सुधार कर लें तो न्यायपालिका के सामने मुकदमे बहुत कम हो जाएंगे। न्यायालय में 25 प्रतिशत मुकदमे तो सिर्फ संपत्ति संबंधी होते हैं। यदि हम परिवार की संरचना प्राकृतिक न करके सहमति के आधार पर कर दें और सबकी संपत्ति संयुक्त कर दें तो लगभग 25% न्यायालय से मुकदमे कम हो जाएंगे।

यदि हम परिवार के किसी सदस्य को परिवार की जमानत पर रहने दें, अर्थात यदि कोई व्यक्ति अपराध करेगा तो उसका जिम्मेदार वह परिवार माना जाएगा, इससे बड़ी मात्रा में अपराध घट जाएंगे।

इसी तरह हम अपनी पंचायत को अधिकार दें कि निर्णय पंचायत करें, निर्णय पुलिस करे, अपील न्यायालय में हो–तब भी अनेक मुकदमे कम हो सकते हैं। हम परिवार को एक संवैधानिक इकाई मान लें, तब महिला और पुरुष के झगड़े बहुत कम हो जाएंगे, न्यायालय तक मामले आने ही रुक जाएंगे।

हम न्यायपालिका को न्याय प्रदाता ना मानकर न्याय सहायक मान लें और न्याय की जिम्मेदारी न्यायपालिका और व्यवस्थापिका की संयुक्त कर दें। इस तरह हम न्यायपालिका का वजन कम करके न्यायपालिका को अधिक सक्रिय बना सकते हैं।

(5) हम वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में आमूलचूल बदलाव की सोच रहे हैं। हम आपको प्रतिदिन यह बता रहे हैं कि हमारे योजना अनुसार नई व्यवस्था किस प्रकार की होनी चाहिए। हम यह सोच रहे हैं कि आम लोगों को सरकार जो भी सुविधाएं दे रही है वे सभी सुविधाएं बंद कर दी जाएंगी और सभी सुविधाओं पर होने वाला खर्च प्रत्येक व्यक्ति को बराबर-बराबर नगद रूप में दे दिया जाएगा।

यह हमारी सोच इस सिद्धांत पर आधारित है कि अब तक हमारी सरकार यह मानती आई है कि आम लोग अपढ़, अयोग्य और अक्षम हैं। अगर हम उन्हें नगद पैसे की मदद कर देंगे तो वे लोग उस पैसे को शराब-जुआ में बर्बाद कर देंगे क्योंकि लोग गलतियाँ करते हैं। इसके विपरीत हमारा यह मानना है कि भारत के औसत लोग सरकारों से कुछ अधिक समझदार होते हैं। हम उन्हें सोचने, निर्णय करने और कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं देते इसलिए उनकी समझदारी घटती चली जाती है। सिद्धांत रूप से प्रत्येक व्यक्ति को गलती करने तक की स्वतंत्रता होनी चाहिए। "वह गलती करेगा इसलिए उसे कोई कार्य करने ही नहीं देना है"–यह सिद्धांत पूरी तरह गलत है। इसलिए हम इस सिद्धांत को पूरी तरह बदल देंगे और कैश सब्सिडी को लागू कर देंगे। मैंने अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में भी इस सिद्धांत का प्रयोग किया है और मुझे अच्छे परिणाम दिखे हैं।

(6) लोकतंत्र में किसी भी प्रकार के किसी आंदोलन की छूट नहीं होनी चाहिए। कोई भी आंदोलन असामाजिक कार्य माना जाना चाहिए। किसी भी प्रकार के आंदोलन करने वाले का सामाजिक बहिष्कार होना चाहिए क्योंकि लोकतंत्र में आपको अभिव्यक्ति का अधिकार ही मौलिक स्वतंत्रता माना गया है। आप अपने विचार अभिव्यक्त कर सकते हैं लेकिन आप अभिव्यक्ति के नाम पर दबाव नहीं डाल सकते। मैं मानता हूँ कि दुनिया में लोकतांत्रिक व्यवस्था में आंदोलन करने की स्वतंत्रता दी गई है। इसका कारण यह था कि हमारे लोकतंत्र को तानाशाही से खतरा था। तानाशाही में आंदोलन करने की स्वतंत्रता नहीं होती है, इसलिए हमने लोकतांत्रिक व्यवस्था में आंदोलन करने की छूट दी जिससे तानाशाही का डर न रहे। लेकिन अब तानाशाही का खतरा जिन देशों में नहीं है, उन देशों में आंदोलन करने पर प्रतिबंध होना चाहिए। मेरे विचार से भारत में भी ऐसा कोई खतरा नहीं है। यह जरूर है कि सन 90 तक भारत में ऐसा खतरा था, इसलिए आंदोलन को महत्व दिया जाता था, लेकिन अब भारत में ऐसा कोई खतरा नहीं है।

हम स्पष्ट देख रहे हैं कि भारत में नेतागिरी करने के लिए गुंडागर्दी को बहुत महत्व दिया जाने लगा है। गुजरात में पटेल के नाम पर, महाराष्ट्र में हिंदी के नाम पर, उत्तर प्रदेश में चंद्रशेखर रावण अथवा अन्य स्थानीय स्तर पर भी राजनीति में नेतृत्व पाने के लिए गुंडागर्दी को एक महत्वपूर्ण साधन मान लिया गया है।

अब हम सबको चाहिए कि हम गुंडागर्दी को पूरी तरह अस्वीकार कर दें। किसी भी राजनीतिक या सरकारी पद प्राप्त करने के लिए गुंडागर्दी को एक घातक हथियार घोषित कर दिया जाना चाहिए। ऐसे लोगों को चुनाव लड़ने पर प्रतिबंध लगा दिया जाना चाहिए। सरकारी नौकरी में भी इन लोगों का प्रवेश वर्जित होना चाहिए। मेरी आपको सलाह है कि आप गुंडागर्दी को निरुत्साहित करिए और धीरे-धीरे लोकतंत्र को गुंडागर्दी से मुक्त कर दीजिए।

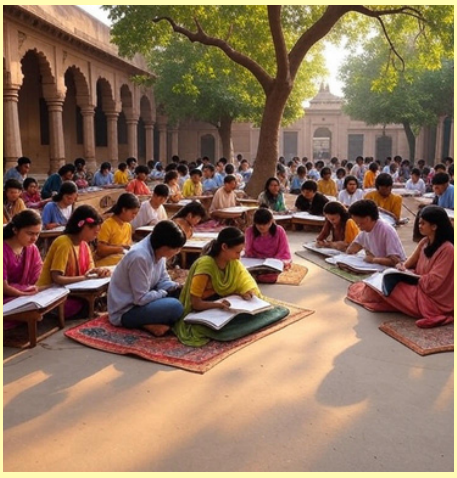

(7) नई समाज व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति एक स्वतंत्र इकाई होगा। उसे यह पूरी स्वतंत्रता होगी कि वह किसके साथ और कब तक जुड़कर रहना चाहता है। कोई किसी को अपने साथ बलपूर्वक जोड़कर नहीं रख सकता। कोई भी बालक जन्म लेते ही उस परिवार का सदस्य मान लिया जाएगा जिस परिवार की उसकी मां होगी। जन्म होने के बाद मां का भी बच्चे पर कोई अधिकार नहीं होगा बल्कि बच्चा संयुक्त परिवार का एक सदस्य माना जाएगा। बच्चों की किसी भी प्रकार की कोई पहचान पिता से होगी ही नहीं, अर्थात कोई संतान किस पिता से पैदा हुई है, इस बात से न परिवार को मतलब है, न समाज को मतलब रहेगा, न कानून को; क्योंकि बच्चे की पहचान सिर्फ माता से होगी और वह भी जन्म लेने तक। उसके बाद वह बच्चा परिवार का सदस्य हो जाएगा।

किसी भी व्यक्ति अथवा परिवार से सरकार के द्वारा किसी प्रकार का टैक्स नहीं लिया जाएगा। सिर्फ एक "सुरक्षा कर" होगा जो उसकी सुरक्षा की गारंटी देता है। यह सुरक्षा कर भी प्रत्येक परिवार की कुल संपत्ति का दो प्रतिशत से अधिक वार्षिक नहीं होगा। अन्य सभी प्रकार के टैक्स हटा दिए जाएंगे। प्रत्येक व्यक्ति को परिवार का सदस्य बनना अनिवार्य होगा। कोई भी व्यक्ति कभी भी परिवार छोड़ सकता है या निकाला जा सकता है, लेकिन उसे नया परिवार बनाना ही होगा। यदि कोई व्यक्ति अकेला रहना चाहता है तो उसे सुरक्षा कर के रूप में अधिक टैक्स देना होगा। प्रत्येक व्यक्ति के मौलिक अधिकार परिवार के साथ संयुक्त होंगे। इस तरह मैंने आपके समक्ष नई समाज व्यवस्था का एक छोटा सा प्रारूप प्रस्तुत किया है।

(8) नई समाज व्यवस्था में राष्ट्र और राज्य अलग-अलग होंगे। राज्य "देश" को कहा जाएगा। देश अथवा राज्य की एक सरकार होगी। उस सरकार को यह अधिकार होगा कि वह किसी भी व्यक्ति को किसी भी मात्रा में दंड दे सकती है। लेकिन राष्ट्र की कोई सरकार नहीं होगी, बल्कि राष्ट्र की एक व्यवस्था होगी, और राष्ट्र को यह अधिकार होगा कि वह सबकी सहमति से एक सामाजिक व्यवस्था बना सकता है, लेकिन दंड नहीं दे सकेगा।

पूरी दुनिया में राष्ट्र अलग होंगे और राज्य अलग। मैं ऐसा मानता हूं कि हर एक करोड़ की आबादी पर एक देश होना चाहिए। इस तरह पूरी दुनिया में करीब 7.5 अरब लोग रहते हैं और 750 देश होने चाहिए। इन सभी देशों को मिलाकर एक संयुक्त संघ बन सकता है। लेकिन कुछ देश ऐसे होंगे जिनमें एक से अधिक राष्ट्र भी हो सकते हैं और कुछ राष्ट्र ऐसे होंगे जिनमें एक से अधिक देश हो सकते हैं। भारत में वर्तमान समय में करीब 140 देश बन जाएंगे और 140 देशों की संयुक्त सभा में उनकी भूमिका अलग-अलग होगी। इस तरह हमारी समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था का पूरा ढांचा बिल्कुल अलग-अलग होगा।

संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था को ही हम "समाज व्यवस्था" कह सकते हैं क्योंकि संयुक्त राष्ट्र ही 7.5 अरब व्यक्तियों के समाज का एकीकृत स्वरूप होगा। संयुक्त राष्ट्र संघ सामाजिक व्यवस्था बनाएगा और संयुक्त राज्य संघ प्रशासनिक व्यवस्था बनाएगा। इन दोनों को मिलाकर पूरी दुनिया की एक आदर्श व्यवस्था बन जाएगी। यदि संयुक्त राज्य और संयुक्त राष्ट्र के बीच आपस में कोई टकराव होगा, तब पूरी दुनिया में जनमत संग्रह होगा और जनमत संग्रह से उस टकराव का निपटारा किया जाएगा।

(9) मैंने अपने जीवन में गंभीरता से इस बात का अनुभव किया है कि अंधविश्वास की तुलना में अविश्वास ज्यादा घातक हो रहा है। नास्तिकता पूरी दुनिया में लगातार बढ़ती जा रही है और नास्तिकता को बढ़ाने में अंधविश्वास का विरोध भी सहायक हो रहा है। यदि अंधविश्वास और नास्तिकता दोनों की तुलना की जाए, तो नास्तिकता से समाज को नुकसान अधिक हो रहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अंधविश्वास अच्छा है। मैं भी समझता हूं कि अंधविश्वास से समाज को नुकसान होता है, लेकिन अंधविश्वास को रोकते-रोकते यदि ईश्वर के प्रति अविश्वास बढ़ने लग जाए तो वह नुकसान बहुत अधिक, दीर्घकालिक और घातक होता है।

वर्तमान दुनिया में अपराध नियंत्रण के लिए जो तीन मार्ग बताए गए हैं, उनमें एक है – ईश्वर का भय, दूसरा है – समाज भय, और तीसरा है – कानून का भय। इन तीनों में तुलनात्मक रूप से ईश्वर का भय अधिक कारगर होता है। जो ईश्वर से नहीं डरते उनके लिए सामाजिक अनुशासन का उपयोग किया जाता है और जो दोनों से नहीं डरते, उनके लिए ही कानून उपयोगी होता है। लेकिन यदि हम ईश्वर के भय को समाप्त करके कानून के माध्यम से अपराध रोकने की योजना बनाते हैं, तो इस तरह की योजना सफल नहीं हो सकेगी। मैं इस बात को मानता हूं कि आर्य समाज ने बहुत ईमानदारी से अंधविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया, लेकिन इस प्रयत्न के आधार पर आर्य समाज नास्तिकता को कम करने में सफल नहीं हो सका। इसलिए इस विषय पर गंभीरता से सोचा जाना चाहिए। मैं इस विषय पर कल सुबह एक पोस्ट और लिखूंगा।

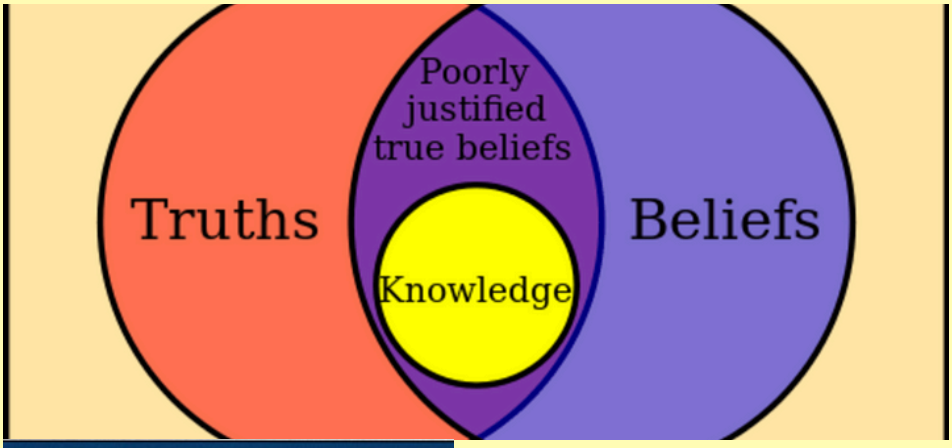

(10) मेरे विचार से नास्तिकता और अंधविश्वास दोनों ही घातक हैं, किंतु यदि दोनों में से किसी एक को चुनने की बारी आएगी तो मैं नास्तिकता को अधिक खराब मानूंगा। फिर भी हमें इन दोनों को ही खराब मानकर योजना बनानी चाहिए। मुख्य प्रश्न यह है कि इसका समाधान क्या है?

व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं – बुद्धि प्रधान और भावना प्रधान। बुद्धि प्रधान लोग ही समस्याएं पैदा करते हैं। बुद्धि प्रधान लोग ही नास्तिक होते हैं। लेकिन यह बात भी सच है कि बुद्धि प्रधान लोग ही समस्याओं का समाधान भी कर सकते हैं, समाधान बता भी सकते हैं। भावना प्रधान लोग न तो समस्याएं पैदा करते हैं, न ही समाधान करते हैं, क्योंकि वे तो दूसरों के अनुसार नकल करने के लिए बाध्य होते हैं। वे स्वयं सोचकर निर्णय नहीं कर पाते।

इसलिए हमें इस दिशा में लगातार कार्य करना चाहिए कि भावना प्रधान लोग किसी भी परिस्थिति में नास्तिक न बन सकें, वे अविश्वास न करें, बल्कि भावना प्रधान लोग ईश्वर पर विश्वास करें। बुद्धि प्रधान लोग आमतौर पर नास्तिक होते ही हैं, लेकिन बुद्धि प्रधान लोगों का यह कर्तव्य है कि वे आपस में चर्चा करते समय तर्क को आधार बनाएं, श्रद्धा को नहीं; और भावना प्रधान लोगों को तर्क के माध्यम से नहीं, बल्कि श्रद्धा के माध्यम से समझाएं।

श्रद्धा और तर्क का एक साथ जुड़ना ही व्यक्ति को समझदार बना सकता है। यदि तर्क बहुत अधिक हो जाएगा तो व्यक्ति नास्तिक हो जाता है; श्रद्धा यदि बहुत अधिक हो जाएगी तो व्यक्ति अंधविश्वासी हो जाता है – और दोनों ही घातक हैं। इसलिए श्रद्धा और तर्क का एक साथ जुड़ जाना ही इन समस्याओं का समाधान है।

(11) मेरा अपना विचार है कि सबसे पहले बुद्ध ने व्यक्तिगत चरित्र को महत्व दिया, व्यवस्था को कमजोर किया। परिणाम हुआ कि राजा अहिंसक हो गए, देश गुलाम हो गया। बुद्ध के पहले भी जन्मना वर्ण व्यवस्था ने समाज में वर्ण व्यवस्था को नुकसान पहुंचाया था। समाज में विचारकों का अभाव हो गया था और अयोग्य लोग विचारक बन बैठे थे। सबसे पहले इस समस्या को स्वामी दयानंद ने समझा और आर्य समाज के माध्यम से विचार क्रांति की शुरुआत की, लेकिन उनकी अकाल मृत्यु के बाद आर्य समाज की दिशा बदल गई और आर्य समाज समाज सुधार में लग गया। आर्य समाज ने हर मामले में दखल दिया और वह ओवरलोडेड हो गया। इसका मुख्य कार्य विचार मंथन छूट गया।

उसके बाद विनोबा भावे ने आचार्य कुल के माध्यम से यह शुरू किया, लेकिन आपातकाल में इंदिरा गांधी ने इस प्रयास को प्रारंभ में ही कुचल दिया। अब आचार्य कुल भी भ्रमित है। तीसरी बार हम लोगों का माँ संस्थान इस दिशा में धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। हमें एक ऐसा छोटा समूह तैयार करना चाहिए जो स्वतंत्र विचारक हों, जो किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध न हो। हम इस दिशा में प्रयासरत हैं। इसके साथ-साथ हम इस बात के लिए भी सावधान हैं कि हम अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान न करने लगें, अन्यथा हमारा माँ संस्थान भी ओवरलोडेड हो जाएगा। इस विचारकों के समूह को तैयार करने में हमें आर्य समाज, गायत्री परिवार, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, आचार्य कुल, गांधीवादी विद्वानों तथा इस प्रकार की संस्थाओं के साथ तालमेल भी बिठाना पड़ेगा। हम समाज सुधार का कार्य नहीं कर रहे हैं, बल्कि हम सिर्फ सामाजिक समस्याओं पर रिसर्च करके समाधान खोज रहे हैं। इस तरह यह एक समाज-विज्ञानियों की टीम बननी चाहिए। जब तक हम नई वर्ण व्यवस्था में विचारकों का महत्व समाज में स्थापित नहीं कर पाएंगे, तब तक हम आगे का मार्ग नहीं खोज पाएंगे।

अब हमारी समाज व्यवस्था को किसी व्यक्ति के मार्गदर्शन की नहीं, बल्कि एक विचारकों के समूह के मार्गदर्शन की आवश्यकता है और इसके लिए सबसे अधिक जरूरी है कि एक विचारकों का समूह बने। आइए, हम सब मिलकर इस कार्य में अपना योगदान दें। हम प्रतिदिन रात 8:00 बजे से 9:30 बजे तक होने वाले स्वतंत्र विचार मंथन में सहयोगी या सहभागी बनें।

संविधान चर्चा

मैंने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि स्वतंत्रता के बाद भारत में पंडित नेहरू, सावरकर और अंबेडकर की भूमिका बहुत घातक रही है। वैसे तो इन तीनों की भूमिका स्वतंत्रता के कुछ वर्ष पूर्व से ही संदेहास्पद लग रही है। यह तीनों ही कहीं न कहीं अंदर-अंदर अंग्रेज सरकार और लॉर्ड माउंटबेटन से भी संपर्क रखते थे। यह भी संदेह किया जाता है कि कहीं न कहीं गांधी हत्या में भी इन लोगों की लॉर्ड माउंटबेटन के साथ मिलकर किसी न किसी प्रकार की सहभागिता जरूर रही होगी। लेकिन इन तीनों में भी अंबेडकर की भूमिका प्रारंभ से ही लगातार स्वतंत्रता के लिए घातक रही है।

मैंने आज पटना के प्रसिद्ध शिक्षक खान सर का एक लेख पढ़ा, इसमें भीमराव अंबेडकर को नेहरू से भी ज्यादा योग्य लिखा गया था। इस लेख में अनेक प्रकार से अंबेडकर की प्रशंसा की गई थी, लेकिन मेरे विचार से खान सर ने इतिहास को या तो ठीक से समझा नहीं या जानबूझकर तोड़-मरोड़ कर पेश किया है। स्वतंत्रता संघर्ष में सावरकर और नेहरू की तो भूमिका रही है लेकिन अंबेडकर की कभी कोई भूमिका नहीं रही। अंबेडकर ने तो अपने पूरे कार्यकाल में गांधी के लिए बाधाएं पैदा कीं और अंबेडकर हमेशा अंग्रेजों के साथ मिले हुए थे।

जिस अंबेडकर की खान सर 1932 से प्रशंसा कर रहे हैं कि अंबेडकर ने गोलमेज सम्मेलन में पृथकता की बात नहीं रखी थी — अरे खान भाई, उस समय तो मुस्लिम लीग ने भी कोई भारत से पृथक मांग की बात नहीं रखी थी! सबसे पहले स्वतंत्रता के साथ अंबेडकर ने ही कुछ शर्तें रखनी शुरू की थीं। मैं खान सर जी को यह बात भी बताना चाहता हूँ कि अंबेडकर ने 14 मार्च 1946 को अंग्रेज सरकार को एक पत्र लिखा था, जिसमें लिखा गया था कि मेरे सरीखे करोड़ों अछूतों ने भारत में अंग्रेज सरकार को बनाए रखने में मदद की है और इस मदद के बदले में हमारा अंग्रेज सरकार विशेष ख्याल रखे, क्योंकि हमारा अंग्रेज सरकार पर मदद करने का एहसान है।

आश्चर्य है कि इतने अंग्रेजों के एजेंट अंबेडकर की खान सर भूरी-भूरी प्रशंसा करने की गलती कर रहे हैं। मैं तो यह एक लिटमस टेस्ट मानता हूँ कि जिस व्यक्ति ने गांधी की नीतियों को कभी स्वीकार नहीं किया और समय मिलते ही या तो विरोध किया या उलट दिया — वह व्यक्ति देशभक्त हो ही नहीं सकता।

संघ और हिन्दुत्व

दिनांक 23 जून 2025 को आयोजित ज़ूम चर्चा कार्यक्रम में सामाजिक समस्याओं पर गंभीर विमर्श हुआ। चर्चा के दौरान समस्याओं से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श किया गया।

वर्तमान समय में संचालक और संचालित के मध्य दूरी अत्यधिक बढ़ गई है। दूसरे शब्दों में कहें तो न्याय और व्यवस्था, राज्य और सरकार, तथा शासक और शासित के बीच संवाद की कमी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। आज के दौर में जनता और जनप्रतिनिधियों के बीच संवाद लगभग शून्य हो गया है। इसी प्रकार न्यायपालिका और न्याय की आकांक्षा रखने वाले नागरिकों के बीच भी अंतराल बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार की व्यवस्था से असंतोष एवं अव्यवस्था को जन्म मिलता है।

मानव स्वभाव में "ताप वृद्धि" का तात्पर्य उसके भीतर दुर्गुणों के विस्तार से है। जब किसी व्यक्ति के भीतर लालच, असंतोष, क्रोध, अनैतिकता तथा उपभोक्तावाद जैसे अवगुण गहराई से घर कर लेते हैं, तो इस स्थिति को 'मानव ताप वृद्धि' कहा जा सकता है। हम प्रायः जलवायु परिवर्तन और वैश्विक तापन जैसी समस्याओं पर चर्चा करते हैं, किंतु उन कारणों की ओर ध्यान नहीं देते जिनसे ये समस्याएं जन्म लेती हैं। वास्तव में देखा जाए तो मानव के आंतरिक ताप की वृद्धि ही इन समस्याओं की मूल जड़ है।

आत्महत्या एक सामाजिक और नैतिक प्रश्न है, न कि आपराधिक कृत्य। सुखद तथ्य यह है कि भारतीय दंड संहिता में अब इसे अपराध की श्रेणी से बाहर कर दिया गया है। आत्महत्या प्रायः व्यक्ति द्वारा अपने जीवन की अत्यंत कष्टप्रद परिस्थितियों से त्रस्त होकर की जाती है। समाज का कर्तव्य है कि वह ऐसे व्यक्ति की परिस्थिति, भावना और विवशता को समझते हुए उसे सहयोग प्रदान करे।

सामान्यतः देखा गया है कि भावना प्रधान या मानसिक रूप से असंतुलित व्यक्ति आत्महत्या की प्रवृत्ति के शिकार अधिक होते हैं। अहंकार अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रति अत्यधिक मोह भी इसका प्रमुख कारण हो सकता है। अतः व्यक्ति को बुद्धिप्रधान और तार्किक होने की आवश्यकता है।

समाज के समक्ष पाँच प्रकार की समस्याएँ होती हैं—वास्तविक, कृत्रिम, प्राकृतिक, भूमंडलीय तथा अस्तित्वहीन। दुर्भाग्यवश, सरकार प्रायः कृत्रिम एवं अस्तित्वहीन समस्याओं पर ही विचार करती है, जबकि वास्तविक समस्याएँ उपेक्षित रह जाती हैं। राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए कई बार नई समस्याओं का सृजन भी जानबूझकर किया जाता है, जिनमें महंगाई और सामाजिक असमानता जैसे विषय शामिल हैं।

कुल मिलाकर यह चर्चा अत्यंत सार्थक एवं उद्देश्यपूर्ण रही। सभी विचारकों ने निष्पक्षता और स्वतंत्रता के साथ अपने विचार प्रकट किए, जिससे संवाद की गुणवत्ता और गहराई बढ़ी।

ज़ूम चर्चा कार्यक्रम का सारांश

(1) दिनांक 10.7.2025 को आयोजित जून चर्चा कार्यक्रम में 'न्यायाधीश' विषय पर चर्चा हुई। चर्चा के दौरान न्यायाधीश पद से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर बात की गई।

न्यायाधीश को वस्तुनिष्ठ निष्पक्ष और पूर्वाग्रह रहित होकर अपने दायित्वों का निर्वहन करना चाहिए। आमतौर पर व्यक्ति विशेष प्रकार की धारणा, पूर्वाग्रह और मानसिकता के साथ जीवन जीता है। जब कोई व्यक्ति संवैधानिक या सार्वजनिक पद धारण करता है तो उसे इन बातों का त्याग कर देना चाहिए। न्यायाधीशों को भी अपनी धारणाएं या मानसिकता को व्यक्त करने का अधिकार नहीं है। संवैधानिक पद पर बैठा हुआ व्यक्ति बनाए गए उपबंधों और प्रावधानों के अनुसार ही अपने दायित्व का संपादन कर सकता है। इस दौरान वह व्यक्तिगत रूप से दया नहीं कर सकता।

अक्सर देखा जाता है कि अधिकांश लोग अपने आप को सार्वजनिक रूप से लोकप्रिय बनाने के लिए बहु चर्चित मामलों में अपने आप को शामिल कर लेते हैं। कैंडल मार्च और टीवी डिबेट में भाग लेना इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है। महिलाओं और दलितों से जुड़े मामलों में यह देखा गया है कि भले उनका आचरण या चरित्र अच्छा नहीं रहा परंतु महिला और दलितों का हितेषी होने का ढोंग करते हैं। न्यायाधीशों के मामले में भी ऐसा ही होता है। अधिकांश न्यायाधीशों को अनैतिक गैरकानूनी और अपराध में अंतर नहीं मालूम। हमारी कानून व्यवस्था में इस तरह का प्रशिक्षण और शिक्षण की व्यवस्था ही नहीं की गई है। हमारी कानून व्यवस्था में अनैतिक और गैरकानूनी कार्यों को भी अपराध की श्रेणी में डाल दिया गया है। जिसके कारण कानून का मकड़जाल पैदा हो गया है जो न्याय व्यवस्था को बुरी तरह से प्रभावित कर रहा है।

कॉलेजियम व्यवस्था से भारतीय न्यायपालिका को मुक्ति पानी होगी। इस व्यवस्था के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और अन्य चार वरिष्ठ न्यायाधीश का समूह न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदस्थापन और स्थानांतरण के संबंध में निर्णय लेता है। इसकी सबसे बड़ी खराबी यह है कि इसमें पारदर्शिता और निष्पक्षता का घोर अभाव है। मेरे विचार से भारत सरकार को अखिल भारतीय न्यायिक सेवा का प्रावधान कर कॉलेजियम व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को यह विचार करना चाहिए कि उनकी सोच परिवार व्यवस्था और समाज व्यवस्था को कमजोर तो नहीं कर रही है। हाल के दिनों में न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय ने परिवार और सामाजिक व्यवस्था को बेहद कमजोर किया है। समलैंगिकता, विवाहेत्तर संबंधों को मान्यता देना जैसे निर्णयो ने बहुत ही बुरा प्रभाव डाला है। न्यायाधीशों को निर्णय देते समय भारत की संस्कृति, सभ्यता, आचार व्यवहार और नैतिकता को ध्यान मे रखना चाहिए।

(2) दिनांक 11.7.2025 को जूम चर्चा कार्यक्रम में 'व्यवस्था' विषय पर चर्चा हुई। इसके अंतर्गत 'व्यवस्था' विषय से जुड़े अनेक पहलुओं पर बात की गई।

हमें यह बात जानना जरूरी है कि व्यवस्था का निर्माण मनुष्य क्यों करता है? व्यवस्था का निर्माण मनुष्य अपने जीवन को सुगम और आसान बनाने के लिए करता है। इसमें और एक बात ध्यान देने की है कि व्यवस्था का निर्माण सामान्य जनमानस के लिए होता है ना कि चरित्रवान और समझदार लोगों के लिए। यह सत्य है कि समाज में 1 से 5% व्यक्ति ही चरित्रवान और समझदार होते हैं। जिनके पास किसी चीज को गहराई से समझने की क्षमता, तार्किक दृष्टिकोण, ऊंचे स्तर का चरित्र, अडिग सिद्धांत और आचरण होता है। अधिकांश आबादी बनी हुई व्यवस्था के आधार पर ही अपने जीवन का निर्माण करती है। यही कारण है कि व्यवस्था का निर्माण अत्यंत आवश्यक है।

बुद्ध का उपदेश व्यक्तिगत चरित्र के दृष्टिकोण से अनुकरणीय और उदात्त है। उन्होंने सम्यक आचरण, मध्य मार्ग और अष्टांग योग का उपदेश दिया। पारिवारिक मामलों में बुद्ध एकदम चुप रहे। अगर सामाजिक मामले में देखें तो हम पाते हैं कि उन्होंने तत्कालीन वर्ण व्यवस्था को बनाए रखा। इसके अलावा स्त्रियों के प्रति उनकी धारणा सही नहीं कही जा सकती। उन्होंने बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश पर गहरी आपत्ति व्यक्त की। उन्होंने स्त्रियों के बौद्ध संघ में प्रवेश के लिए कठोर शर्तें रखी जो अपमानजनक और दोयम दर्जे की थी। उनके अनुसार गुलाम या नौकरों को बौद्ध संघ में प्रवेश से पहले अपने स्वामी की अनुमति लेना जरूरी था। अगर हम इन बातों पर गौर करें तो उनके सामाजिक विचार आज की परिस्थितियों के सर्वथा अनुपयुक्त है।

वर्तमान समय में कानून के माध्यम से राजनेताओं द्वारा समाज बदलने की जो हवस है वह बहुत हानिकारक है। स्वतंत्रता के बाद विधायिका ने समाज बदलने के नाम पर अवांछित कानून का निर्माण कर समाज व्यवस्था को अपूरणीय नुकसान पहुंचाया है। वर्तमान दुनिया में चार प्रकार की व्यवस्थाएं हैं- व्यक्ति प्रधान, धर्म प्रधान, राज्य प्रधान और समाज प्रधान। अगर व्यक्ति प्रधान की बात करें तो यूरोप इस श्रेणी में आएगा। इस्लामिक देश धर्म प्रधान के अंतर्गत आएंगे। साम्यवादी देश राज्य प्रधान माने जाएंगे। भारत में इन सबका घालमेल है।

लोकतंत्र दो स्थितियों में वर्तमान समय में कार्य कर रहा है- जीवन पद्धति और शासन पद्धति। ब्रिटेन में लोकतंत्र जीवन पद्धति से आया है। वहां का लोकतंत्र पिछले हजार वर्षों से अनवरत चल आ रहे अभिसमय का परिणाम है। 11वीं शताब्दी से ब्रिटेन का लोकतंत्र राजशाही से लोकशाही तक का सफर तय किया है। वर्तमान व्यवस्था उनके लिए अत्यंत लाभकारी और फलदायक रही है। भारत में लोकतंत्र शासन पद्धति के माध्यम से आया जो कि हमारे लिए एक अभिशाप की तरह है। हमने ब्रिटेन की संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था को उसी रूप में अपना लिया जो हमारी संस्कृति, परंपरा और आदर्शों के अनुकूल नहीं है। नेपाल, पाकिस्तान, भूटान और अन्य देशों में लोकतंत्र शासन पद्धति के माध्यम से ही आया है।

लोकतंत्र और तानाशाही दो प्रकार की शासन व्यवस्था वर्तमान विश्व में प्रचलित है। तानाशाही व्यवस्था के अंतर्गत शासन की कमान किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के हाथ में होती है। इसके अंतर्गत मौलिक या प्राकृतिक अधिकारों का कोई महत्व नहीं होता। वहीं दूसरी ओर लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता की स्पष्ट भागीदारी होती है। जनता अपने प्रतिनिधि के माध्यम से शासन मे भाग लेती है। यहां पर व्यक्ति के मौलिक या प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी होती है। तानाशाही व्यवस्था में या तो सुव्यवस्था होती है या कुव्यवस्था। वहीं लोक स्वराज में स्वव्यवस्था होती है।

साथियों की कलाम से :

'जुस्तजू' - नरेन्द्र सिंह

ठहरी नहीं जिन्दगी मेरी,
किसी अहल-ए-पड़ाव पर...!
मैं सोचता था ठहर कर ख़ुद से,
ग़मों को रुख़्सत करूँगा.....!
मगर हर मोड़ पर
कोई नयी 'उलझन' मेरे मंसूबे कुचलती रही,
मै मचलता रहा, वक्त गुजरता गया,
मेरे रंज की कशिश जिन्दगी पाती गयी.....।
जिन्दादिली जो भीड के दरमियां,
मिजाज पर मेरे तारी रही,
फकत बस इस सरमाये के सहारे,
मेरी सासें चलती रहीं.....!
हर सास हसरतों का सैलाब थी,
हर पल सवालों का मंजर,
मैं खुद को जितना पढ़ता गया,
उतना ही अनकहा बाकी रह गया.....।
मैने जमाने में ढूँढा बहुत,
अपने अदने से जमीर का वजूद,
मगर जमाने के साथ चलने की जिद में,
बेचारा बेवक्त वह भी मर गया.....।
मै सुलझाने में रहा दुश्वारियां बढती रहीं,
यूँ हसरतें जिन्दगी की मिटती गयीं,
मै थका तो वीरान हुआ,
ये चुभती नसीहत मुझे,
अहल-ए-वक्त से मिली.....।
और जाते-जाते दुनिया के बाजार से,
मै फकत वह जुस्तजू ले गया,
जिस चाह में मै दुनिया में रहा,
उसे एहसास में जज्ब कर मै 'अहल ए गैब' ले गया.....।

(मेरी यह नज्म भी मेरे कविता संग्रह 'दृष्टि' का भाग है। इसे मैने समाज में जीवन की परिस्थितियों के अनुसार लिखने का प्रयास किया है।)

जब छात्र मोहरे बन जाते हैं: रोहित से राहुल तक

ज्ञानेन्द्र आर्य

राहुल गांधी ने इसे जातिगत भेदभाव के खिलाफ कानूनी सुरक्षा के रूप में प्रस्तुत किया, विशेष रूप से यूपी और बिहार में कांग्रेस की स्थिति मजबूत करने के लिए। BJP ने इस एक्ट को सामाजिक विभाजन और अल्पसंख्यक वोट बैंक को लाभ पहुँचाने का प्रयास बताया, और पक्षपात पूर्ण बताया है। इसे "94% बनाम 6%" या "ब्राह्मण बनाम शेष समाज" के रूप में चित्रित किया गया है।

विचारधाराओं का संघर्ष -

ASA और ABVP का टकराव : ASA का याकूब मेमन की फांसी के खिलाफ कार्यक्रम और ABVP का विरोध विचारधारात्मक संघर्ष का हिस्सा था। सुशील कुमार की फेसबुक पोस्ट और कथित मारपीट ने इस तनाव को बढ़ाया। यह संघर्ष दो छात्र समूहों के बीच छोटे स्तर पर शुरू हुआ, लेकिन विचारधाराओं के बड़े युद्ध में बदल गया।

इस मामले को एक बड़े विचारधारात्मक युद्ध के रूप में देखा गया, जहाँ साम्यवादी और वामपंथी विचारधारा (ऑक्टोपस) का प्रभाव भारत में इंदिरा गांधी के समय से बढ़ रहा था, जो देश भर में अंदर ही अंदर व्यवस्था पर दबदबे के प्रभाव का इस्तेमाल कर समाज के हर हिस्से में अपनी पैठ बढ़ा रहा था। दूसरी ओर, 2014 में नरेंद्र मोदी का उदय, BJP की हिन्दूवादी विचारधारा (मगरमच्छ) को सत्ता में लाया। रोहित वेमुला और एन. सुशील कुमार इस युद्ध में छोटी मछलियाँ या प्यादे थे, जिनके पीछे बड़ी विचारधाराएँ (ऑक्टोपस और मगरमच्छ) आपस में टकरा रही थीं। ASA की अंबेडकरवादी और उग्र वामपंथी विचारधारा (चे ग्वेरा से प्रेरित) और ABVP की राष्ट्रवादी विचारधारा इस संघर्ष में बैटल ग्राउंड भर थीं।

- बंडारु दत्तात्रेय के पत्र और स्मृति ईरानी की भूमिका ने इसे राष्ट्रीय स्तर पर BJP बनाम कांग्रेस/वामपंथी विचारधारा का मुद्दा बना दिया। स्मृति ईरानी, जो HRD मंत्री थीं और राहुल गांधी को अमेठी में हराकर सत्ता में आई थीं, राहुल गांधी इस मामले से भी अपनी उसे हार का बदला और अपनी राजनैतिक भूमि तलाश रहे थे।

कानूनी और सामाजिक प्रश्न -

SC/ST कोटे का दुरुपयोग : यदि रोहित वेमुला OBC थे और फर्जी SC प्रमाणपत्र का उपयोग किया, तो यह भारतीय दंड संहिता (IPC) की धारा 420 (धोखाधड़ी), 467 (जालसाजी), 468, और 471 के तहत अपराध है। सजा में 7 वर्ष तक की कैद और/या जुर्माना शामिल हो सकता है। विश्वविद्यालय प्रवेश रद्द कर सकता है, और प्राप्त लाभ की वसूली हो सकती है।

- VIP कल्चर का सवाल : इस मामले में स्मृति ईरानी, बंडारु दत्तात्रेय, और राहुल गांधी जैसे बड़े नेताओं की संलिप्तता ने एक छोटे छात्र विवाद को राष्ट्रीय मुद्दे में बदल दिया।

- SC/ST कोटे में घुसपैठ: रोहित वेमुला के मामले में, यदि वह OBC थे, तो यह सवाल उठता है कि कैसे फर्जी SC प्रमाणपत्र के आधार पर वर्षों तक लाभ लिया गया। यह SC/ST कोटे में सत्यापन प्रक्रिया की कमियों को उजागर करता है।

- विचारधाराओं का युद्ध और संवेदनाएँ : रोहित वेमुला की आत्महत्या को विचारधारात्मक युद्ध में लाश के रूप में इस्तेमाल किया गया। विचारधाराओं के इस संघर्ष में नैतिकता और मानवीय मूल्य गौण हो गए, और संवेदनाओं को भड़काने के लिए उनकी मृत्यु का उपयोग हुआ।

रोहित वेमुला का मामला ASA और ABVP के बीच विचारधारात्मक टकराव से शुरू हुआ, जो याकूब मेमन की फांसी के विरोध और मारपीट की घटना से बढ़ा। राजनीतिक हस्तक्षेप ने इसे राष्ट्रीय मुद्दा बना दिया। रोहित और सुशील जैसे छात्र प्यादे बन गए, जिनके पीछे बड़ी विचारधाराएँ टकराईं। प्रस्तावित रोहित वेमुला एक्ट को कांग्रेस ने भेदभाव-विरोधी कानून के रूप में प्रस्तुत किया, यह कितना है यह हम सब जानते हैं। जाति जनगणना के अपने मुद्दे पर फेल हो मुहब्बत की दुकान वाले राहुल गांधी भी इसी मुद्दे के सहारे विचारधारा के शत्रु भाजपा की संतुनवादी हिन्दुत्व के विचार और राजनैतिक प्रतिद्वंद्वी स्मृति ईरानी... दोनों को परास्त करने का मौका देख रहे हैं। सत्ता पक्ष की भाजपा वीआईपी कल्चर पर बोल कर विपक्ष को और मौका नहीं देना चाहती, एससी एसटी कैटेगरी में हो रहे झोल को रोकना उसका संवैधानिक दायित्व है। लेकिन जिन वजहों से यह सारा खेल हो रहा है उसे रोकना भाजपा के लिए एक तरह से राजनीतिक आत्महत्या जैसा हो सकता है। इसलिए मुख्य मुद्दा नेपथ्य में ही रहेगा ऐसा मेरा मानना है। कांग्रेस रोहित वेमुला के नाम पर समाज को बांटने में सफल रहेगा और भाजपा समाज को जोड़ने के नाम पर सवर्णवादी पार्टी बन कर रह जाएगी।

गतांक से आगे ...

(प्रोफेसर श्रीवास्तव का होनहार छात्र विवेक अपने मित्र आदित्य के साथ व्यवस्था के स्वरूप पर चर्चा कर रहें हैं)

... व्यवस्था का नियोजन करना तो समाज का कार्य है। उस नियोजित प्रबन्ध का कार्यान्वयन करना राजनीतिक व्यवस्था का कार्य है जोकि उसे नियोजक बनकर नहीं बल्कि प्रबन्धक बनकर करना चाहिए। मूलतः समाज, राजनीतिक व्यवस्था का नियोक्ता होता है और यदि ऐसा नहीं है तो समाज को समाज केन्द्रित व्यवस्था का ढाँचा बनाना चाहिए!

अर्थात दुनिया के किसी कोनें में यदि ऐसा कभी हुआ तो वहाँ पर राजनीति बिल्कुल मरणासन्न हो जाएगी। .....आदित्य अपनी बात कहते हुए एक बार चुप होता है और उसे सम्बोधित करते हुए पुनः कहता है- विवेक! क्या यह बात व्यावहारिक लगती है कि समाज, राज्यविहीन व्यवस्था की स्थापना भी कर सकता है?

मानव समाज राज्यविहीन होकर कोई सार्वभौमिक व्यवस्था कर सकता है या नहीं कर सकता है यह मेरे अन्वेषण का विषय नहीं है। यह मानवतावादियों का आदर्श हो सकता है। लेकिन मैं तब भी इसे अपने विचारों का लक्ष्य नहीं बना सकता हूँ क्योंकि मैं राज्य के अस्तित्व की चर्चा ही नहीं कर रहा हूँ बल्कि राज्य, समाज के नियन्त्रण में कैसे रहे, मैं तो इस विषय में कोई सूत्र खोजना चाहता हूँ।

तो क्या समाज में लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना का होना समाज का राजनीति पर नियन्त्रण होने का प्रमाण नहीं है?

दुनिया के कुछ हिस्सों में ऐसा आंशिक रूप से हो सका है और कुछ में ऐसा होने के बाद भी बिल्कुल नहीं है।

यह क्या पहेली है विवेक? .....आदित्य पूछता है।

दरअसल में लोकतन्त्र दो पद्धतियों में दुनिया के विभिन्न हिस्सों में स्थापित हुआ है। व्यवस्था की स्थापना के लिए यह दुनिया के जिन देशों मे जीवन पद्धति अर्थात अपने मूल स्वरूप में आया है, उनमें समाज ने राजनीति की निरंकुशता पर नियन्त्रण किया है और समाज ने कुछ हदों तक जीवन की मूल स्वतन्त्रता को अंगीकार भी किया है। यद्यपि दुनिया के अधिकतर लोकतन्त्रीय देशों की व्यवस्था में लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का अभाव है पर इन देशों में हम स्विटजरलैंड, अमेरिका और जापान जैसे देशों का नाम ले सकते हैं। दूसरी ओर दुनिया के कुछ देशों में यह शासन पद्धति में आया हैं। यह इसका छदमवेश है। ऐसे देशों में इसके अन्तर्गत व्यवस्था के ढाँचे में व्यक्ति के मूल अधिकारों का वर्णन तो किया जाता है लेकिन उन्हें वितरण के नाम पर राज्य के अधीन ही रखा जाता है। समाज के जिस भाग में लोकतन्त्र शासन पद्धति में आया है, उसकी संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार समाज को लोकतन्त्र को नियुक्त करने का अधिकार तो प्राप्त होता है लेकिन इस पर नियन्त्रण का कोई अधिकार समाज को नहीं दिया जाता है। मूलतः नियन्त्रण के अभाव में शक्ति अर्जित करने वाली कोई भी व्यवस्था पथ-भ्रष्ट हो जाती है।

लेकिन यह व्यवस्था पर समाज के नियन्त्रण का विषय क्या है? यह तथ्य कुछ समझ में नहीं आ रहा है। क्या तू इसे स्पष्ट करेगा। .....आदित्य उससे पुनः प्रश्न करता है।

हाँ! मैं कोशिश करता हूँ ....विवेक उसे सम्बोधित करते हुए आगे कहता है- इस सृष्टि में ऐसा कुछ नहीं है जो स्वतन्त्र न रहना चाहता हो। लेकिन प्रबन्ध के सूत्र की रचनात्मक व्याख्या तो केवल मानव जाति ने ही की है। व्यक्ति स्वतन्त्र रहना चाहता है लेकिन वह व्यवस्था का कारण किसी अच्छी सरकार में ही निहित समझता है। समाज में राज्यविहीन व्यवस्था की स्थापना के मार्ग की यह सबसे बड़ी बाधा है। .....जीवन के लिए स्वतन्त्रता के सार की मौलिक व्याख्या करने के लिए प्रकृति ने इस धरती पर गांधी नाम के व्यक्ति का सृजन किया है। गांधीजी के विचारों का अध्ययन करने पर मैनें एहसास किया है कि राजनीति का स्वभाव आत्मनिष्ठ नहीं बल्कि वस्तुनिष्ठ होना चाहिए और समाज को सुदृढ राज्य की कल्पना से हटकर स्वराज्य की स्थापना करनी चाहिए। मूलतः मैनें गांधी विचार से यह शिक्षा पायी है कि कोई सबसे अच्छी सरकार भी स्वशासन का विकल्प नहीं हो सकती है। .....अल्पावधी के लिए चुप होकर वह पुनः बोलता है- समाज में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ने से व्यवस्था सुदृढ नहीं होती है बल्कि इससे तो गुलामी उत्पन्न होती है। स्वतन्त्रता का सूत्र तो व्यक्ति का अपने दायित्वों का स्वयं के अनुसार अक्षरशः पालन मे निहित होता है और व्यवस्था का सूत्र यह नहीं होता है कि राज्य, समाज पर व्यवस्था के नाम से विभिन्न प्रकार के कानूनों द्वारा नियन्त्रण स्थापित करे। नियन्त्रण की विधि, व्यवस्था का कोई स्वरूप नहीं है बल्कि अत्यधिक कानूनी हस्तक्षेप से समाज पर राज्य की उच्छृंखलता बढ़ती है।

तो क्या कानून, व्यवस्था के स्वरूप को सुदृढ नहीं करते हैं? आदित्य पुनः प्रश्न करता है।

क्रमशः ...